हिंदी का भविष्य

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

विश्व हिंदी का भविष्य

विश्व हिंदी का भविष्य

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

प्रकाशक
पूर्वांचल प्रकाशन
२३९ चक, इलाहाबाद—२११००३

© : लेखक

संस्करण : प्रथम

प्रकाशन वर्ष : १९७५

प्रतियां : १०००

मूल्य : १२.५०

साज-सज्जा : जौहरी ब्लाक वर्क्स, वाराणसी
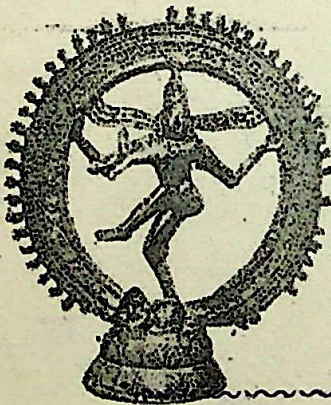
मुद्रक :
विश्वंभरनाथ द्विवेदी
आनंदकानन प्रेस,
सी-के. ३६/२०
वाराणसी—२२१००१

विश्व हिंदी के हिमायतियों को
सविनय

वक्तव्य

'विश्व हिंदी' का प्रयोग देख कर चौंकने अथवा बिदकने वालों की कमी नहीं है। यह चौंकना भी सर्वथा निराधार नहीं है। यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है कि आज कोटि-कोटि भारतीयों द्वारा व्यवहृत ही नहीं, विधान द्वारा स्वीकृत भाषा हिंदी कुचक्र में फंस कर इतने वर्षों बाद भी अपने उपयुक्त पद पर व्यावहारिक दृष्टि से आसीन नहीं हो पाई है। यह इसी दृष्टि से अनादृत ही नहीं, निराश्रित तक बन गई। लोक-कंठों निवास करनेवाली लोक प्रचलित भाषा हिंदी लोक-प्रतिनिधियों के गले के नीचे नहीं उतर रही है। स्वकीया मान कर भी इसे परकीया जैसा व्यवहार दिया जा रहा है। परंतु हमें सदा यह स्मरण रखना चाहिए कि जनमत सर्वोपरि होता है। ऐसी दशा में घपले की नीति बहुत दूर तक सफल नहीं होती है। अंततः राजा दुष्यंत द्वारा उपेक्षिता शकुंतला एक दिन राजरानी बन बैठी थी। हिंदी की भी यही दशा होने वाली है।

लोकमताश्रित नेतागण जब लोक प्रचलित भाषा हिंदी की उपेक्षा कर विदेशी अथवा विजातीय भाषा का हठात प्रयोग करने लग जाते हैं तो स्थिति को शोचनीय ही नहीं, हास्यास्पद तक बना देते हैं। अदूरदर्शी शासक-प्रशासक स्थिति को उलझा कर उसे करुण दशा तक पहुंचा देते हैं। वे लोग यह भूल जाते हैं कि इस ऐतिहासिक भूल का मार्जन सब समय करना संभव नहीं होता है। इस प्रश्न को यह कह कर भी टाला नहीं जा सकता कि यह समय साहित्य-सर्जन का है, भाषा-आंदोलन का नहीं।

विदेशी अथवा विजातीय भाषा के पक्षधर उनका अनियंत्रित गुण-गान करते नहीं अघाते। वे कदाचित यह भूल जाते हैं कि ये भाषाएं अपने विशिष्ट गुणों के कारण नहीं ग्रहण की गई थी अपितु इन्हें बलात हमारे ऊपर लाद दिया गया था। अपनी कुरूपा मां तक किसी भी सुंदरी की अपेक्षा अधिक अपनी होती है। फिर हिंदी किसी भी भाषा से अधिक सक्षम, समर्थ एवं उपयुक्त गुणों से संपन्न विज्ञान-सम्मत भाषा है।

प्रस्तुत पुस्तक को पढ़ने के बाद कदाचित यह स्पष्ट होते देर न लगेगी कि हिंदी अपनी सामासिक प्रवृत्तियों के कारण विश्व की किसी भी

एक भाषा से भिन्न प्रकृति की है। इसलिए किसी भी अन्य भाषा से न तो इसका वैर-विरोध है, न प्रतिद्वंदिता। ऐसी दशा में 'हिंदी-साम्राज्य-विस्तार' की बात तो एकदम निराधार एवं क्लिष्ट कल्पना-प्रसूत है। यह एक ऐसी लोकप्रिय भाषा है जो न केवल कश्मीर से कन्याकुमारी तक न्यूनाधिक बोली-समझी जाती है अपितु विदेशों में भी इसके व्यवहार करने वालों की संख्या उपेक्षणीय नहीं है। इस प्रकार यह किसी धर्म, जाति अथवा क्षेत्र-विशेष की भाषा नहीं है। यही कारण है कि इसके साहित्य-भंडार को समृद्ध बनाने में सभी श्रेणियों का मुक्त सहयोग बिना किसी भेदभाव के सदैव सुलभ रहता आया है।

मुझे यह भलीभांति पता है कि शोध-सागर में डुबकी लगा-कर अपनी पहुंच के अनुरूप ही मैं रत्न-राशि ग्रहण कर सका हूं। इसमें कितनी मोती है और कितनी सीपी यह विज्ञ पाठक ही बतलाने के अधिकारी हैं।

इस पुस्तक में संगृहीत लेख, यद्यपि किसी एक क्रम में नहीं लिखे गए हैं तथापि इन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि भरसक विषय से संबद्ध कोई आवश्यक अंग छूटने न पाये।

पुस्तक का नामकरण पहले लेख के आधार पर हुआ है और शेष लेखों के विषय आनुषंगिक हैं। मैं उन सभी विद्वानों तथा विचारकों का कृतज्ञ हूं जिनसे मैंने किसी-न-किसी रूप में लाभ उठाया है।

अंत में, मैं उन सभी का आभार मानता हूं जिनकी सत्प्रेरणा एवं सत्प्रयास से इस पुस्तक का प्रणयन-प्रकाशन संभव हुआ है।

स्वीकारोक्ति

मैं पहले ही स्वीकार कर लेता हूं कि भाषा-प्रेमी होने के बावजूद भाषावैज्ञानिक नहीं हूं। इसलिए मेरी अपनी सीमाएं हैं। प्रयाग-प्रवासी होने के नाते मुझे राजर्षि टंडन के संपर्क में रहने तथा श्री बालकृष्ण राव के नेतृत्व में भाषा-आंदोलन में सक्रिय भाग लेने का सुअवसर मिला है। मैं हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी का विनम्र सहकर्मी भी रहा हूं। यही नहीं काशी हिंदू विश्व-विद्यालय में मुझे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में 'हिंदी का ऐतिहासिक व्याकरण' तैयार करने में अपनी सेवाओं को अर्पित करने का सुयोग भी मिला है। फिर शांतिनिकेतन वाले जीवन के अपने संचित संस्कार भी हैं। कुल मिला कर मैं किसी संकीर्ण दायरे में अंटने योग्य नहीं रह गया हूं। यह मेरी गर्वोक्ति अथवा आत्मश्लाघा नहीं, वस्तुस्थिति का निदर्शन मात्र है। यह प्रकट करना इसलिए आवश्यक जान पड़ा कि मेरी भाव-भूमि तक पहुंचने में कोई व्यवधान न उपस्थित हो। मेरा हिंदी-प्रेम, मेरे राष्ट्र-प्रेम का ही एक अभिन्न अंग है।

—लेखक

अनुक्रम

संघर्ष

स्वरूप

सोपान

संदर्भ

संघर्ष

विश्व हिंदी का भविष्य

हिंदी अन्य अनेक भाषाओं की भांति किसी क्षेत्र अथवा प्रांत-विशेष की भाषा मात्र न होकर बहुदेशीय है। यह एक ऐसी भाषा-परंपरा है जिसमें पुष्प की पंखुरियों की भांति कई भाषाएं मिल कर एक और अभिन्न अंग बन गई है। इसकी तुलना में फ्रेंच तथा अंग्रेजी जैसी भाषाओं के नाम लिये जा सकते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह मूलतः मध्यदेशीय भाषा-परंपरा की संज्ञा है जिसके अंतर्गत लौकिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश (अवहट्ठ), अर्धमागधी तथा शौरसेनी द्वारा विकसित भाषाओं की गणना की जाती है। सांस्कृतिक तथा राजनीतिक कारणों से इसे मध्यदेश से बाहर की शब्द-संपदा भी विरासत में मिली है जिसमें विदेशी एवं विजातीय शब्द भी नगोने की तरह जड़े हैं। यही कारण है कि इससे सबने अपनापन का अनुभव किया है और इसकी राष्ट्रीय महत्ता को भी स्वीकार किया है।

सुप्रसिद्ध भाषाविद् डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने अपनी कृति 'भारतीय आर्यभाषा और हिंदी' में ठीक ही लिखा है, "उक्त (भारतीय) भाषाओं में हिंदी या हिंदुस्थानी का स्थान सबसे आगे है। कुछ अंशों में तो हिंदी भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण भाषा है। हिंदी या हिंदुस्थानी घरेलू भाषा की दृष्टि से अवश्य केवल दक्षिण-पूर्वी पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, उत्तर-पूर्वी मध्यप्रदेश, उत्तरी ग्वालियर तथा पूर्वी राजपूताना (राजस्थान) आदि कतिपय प्रदेशों ही में बोली जाती है, और यहां भी अधिकांश भागों में प्रादेशिक बोलियां और केवल शहरों में हिंदुस्थानी बोली जाती है। परंतु फिर भी अपने दो रूपों : नागरी हिंदी एवं उर्दू में हिंदुस्थानी बंगाल, असम, उड़ीसा, नेपाल, सिंध, गुजरात एवं महाराष्ट्र (दक्षिण भारत भी) को छोड़कर बाकी समस्त भारत की सर्वमान्य भाषा है।" उन्होंने आगे यह भी लिखा है, "गुजराती तथा मराठी बोलनेवाली जनता नागरी हिंदी को भलीभांति पढ़ एवं समझ ही लेती है। इसके अतिरिक्त बोलचाल की हिंदुस्थानी समझने में भी उसे कोई खास कठिनाई अनुभव नहीं होती। राजपूताना एवं मालवा की जनता ने पिछली शताब्दियों के अपने उच्चकोटि के राज-

स्थानी पिंगल साहित्य के रहते हुए नागरी हिंदी को अपना लिया है। कुछ थोड़े से सिक्खों एवं अन्य व्यक्तियों को छोड़कर बाकी सारे पंजाबी भी हिंदुस्थानी का (नागरी हिंदी या उर्दू रूप में) व्यवहार करते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार के निवासियों ने भी हिंदी को अपना लिया है······बंगाल असम एवं उड़ीसा में भी बोलचाल की हिंदी का एक सरल रूप सभी लोग समझते हैं।" इसके आगे वे यह भी कहते हैं "··· द्रविड़ भाषी दक्षिण में सबसे अधिक समझ ली जाने वाली भाषा हिंदुस्थानी ही है, खासकर शहरों एवं बड़े तीर्थ-स्थानों में। इसके अतिरिक्त फिजी, ब्रिटिश गायना, ट्रिनिडाड, वेस्टइंडीज, दक्षिणी तथा पूर्वी अफ्रीका, मारिशस, मलय तथा इंडोनेशिया में हिंदुस्थानी भाषियों की बस्तियां हैं।" अपनी इन जैसी विशेषताओं के ही विकासक्रम में हिंदी आज 'विश्व हिंदी' के पद पर प्रतिष्ठित होने का दावा करने में सक्षम एवं समर्थ है।

हिंदी का विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार आकस्मिक अथवा अप्रत्याशित नहीं है। इसका बहुत बड़ा श्रेय उन प्रवासी भारतीयों को है जिन्होंने अपनी हिंदी भाषा को संरक्षण प्रदान किया। हम उन धर्म-प्रचारकों को भी नहीं भुला सकते जिन्होंने हिंदी के माध्यम से अपने-अपने मतों के प्रचार किये। इसी प्रकार उन व्यवसायियों-व्यापारियों का हिंदी-सेवा का मूल्य भी हम कम नहीं आंक सकते जिन्होंने व्यापार-व्यवसाय का माध्यम हिंदी को बनाये रखा।

इस संदर्भ में उन राष्ट्रभाषा-प्रचारकों की हिंदी सेवाएं भी कम महत्त्व की नहीं हैं। उल्लेखनीय है कि उनके अथक प्रयास से सन् १९४८ ईसवी से राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के कई परीक्षा-केंद्र विभिन्न देशों में खुल गए हैं। इनमें सम्मिलित होने वाले परीक्षार्थियों की संख्या चालीस हजार के लगभग पहुंच चुकी है। ऐसे साठ परीक्षा-केंद्रों का विवरण इस प्रकार है : दक्षिणी अफ्रीका—बीस, पूर्वी अफ्रीका—पंद्रह, इंगलैंड, श्री लंका तथा थाइलैंड में चार-चार, बर्मा, सूडान, फिजी, जावा तथा उत्तर कोरिया में दो-दो और जापान, अरब तथा चेकोस्लोवाकिया में एक-एक। विदेशों में राष्ट्रभाषा हिंदी की इस प्रगति पर कोई भी राष्ट्रप्रेमी सहज ही गर्व एवं गौरव का अनुभव कर सकता है।

विदेशी विद्वानों ने हिंदी के लोक-संगत महत्त्व तथा महत्ता को बहुत पहले जान एवं पहचान लिया था। सन् १६५५ ईसवी में एडवर्ड टेरी ने

अपनी पुस्तक 'वाएज टु द ईस्ट इंडोज' में हिंदोस्तानी' को भारतीय बोलचाल की भाषा बतलाया है। सन् १७०४ ईसवी में तुरोनेसिस ने 'लैक्सिकन लिंगुआ हिंदोस्तानिका' नामक कृति प्रस्तुत की। उन दिनों डच व्यापारियों का व्यापार-संबंध, यद्यपि दक्षिण भारत से ही अधिक था तथापि उन्होंने हिंदी का परिचय प्राप्त करना आवश्यक समझा।

फलस्वरूप सन् १७१५ ईसवी में उन व्यापारियों की प्रेरणा से जे. जे. केटलियर ने डच भाषा में हिंदुस्तानी का एक व्याकरण तैयार किया। यह हिंदुस्तानी का कदाचित पहला व्याकरण था जिसका लैटिन अनुवाद लाडेन ने सन् १७४३ ईसवी में प्रस्तुत किया। ए. हेमिल्टन ने सन् १७२७ ईसवी में हिंदुस्तानी को अपने एक यात्रा-विवरण में मुग़ल सल्तनत की सामान्य भाषा सूचित किया। सन् १८५२ ईसवी में फ्रांस में दिये गए अपने एक भाषण में गार्सां-द-तासी ने 'हिंदुई-हिंदुस्तानी' को भारतीय लोकभाषा ठहराया। इसी प्रकार सन् १८८६ ईसवी लंदन से प्रकाशित 'हाब्सन-जाब्सन' कोश में 'हिंदुस्तानी' को भारतीय मुसलमानों की राष्ट्रभाषा स्वीकार किया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेशी विद्वान भी हिंदी की वास्तविक स्थिति से सुपरिचित थे।

यहाँ पर 'हिंदुस्तानी' का प्रयोग हिंदी के ही अर्थ में किया गया है। कभी-कभी 'हिंदुस्तानी' का अभिप्राय उर्दू से समझ लिया जाता है जो बहुत कुछ ठीक भी है। वास्तव में उर्दू भाषा हिंदी का प्रतिद्वंद्वी कदापि नहीं है। वह भी तुर्की-अरबी-फ़ारसी भाषी आगंतुकों के संपर्क-सान्निध्य में विकसित हिंदी की ही एक शैली है जो केवल भारतवासियों के बीच उपजी तथा पनपी है। कालांतर में वह सामंती मुस्लिम शासन की छत्रछाया में अप्रचलित तुर्की-अरबी-फ़ारसी शब्दों के दुरूह प्रयोग से बोझिल होकर हिंदी से पृथक दीखने लगी। इसके विपरीत हिंदी संस्कृत-निष्ठ होकर भी भारतीय परंपरा से संबद्ध रही। संस्कृत के प्रायः पचास हजार शब्दों का प्रचलन अन्य भारतीय भाषाओं में पाया जाता है। उर्दू की कोई वैसी परंपरा नहीं रही है। फलस्वरूप क्लिष्ट उर्दू की प्रतिक्रिया में हिंदी में भी क्लिष्टता प्रवेश पा गई। इस प्रकार उर्दू भाषा हिंदी के ही संपर्क में उद्भूत एक विशिष्ट शैली मात्र ठहरती है। दोनों की शब्द-संपदा में थोड़ा-बहुत भेद के रहते भी उनके व्याकरणों में बहुत कुछ एकता एवं समानता पायी जाती है जिससे इसका

समर्थन हो जाता है। विधान-सम्मत नागरी-लिपि को स्वीकार कर लेने के बाद लिपि-भेद का प्रश्न भी अपने आप निरस्त हो जाता है।

इसलिए समाजवादी सरकार को चाहिए कि वह उर्दू को सामंती प्रभाव से मुक्त कराये और उसे लोकप्रिय हिंदी के निकट लाने का यत्न करे। इस प्रकार दोनों के बीच का कृत्रिम अथवा आरोपित भेद मिट जायगा और दोनों में निखार-परिष्कार उत्पन्न होकर सरलता, सुगमता एवं सुबोधता आ जाएगी। हिंदी को तुर्की-अरबी-फ़ारसी अथवा वैदिक संस्कृत का पर्याय समझना किसी पूर्वग्रह का परिणाम अथवा परिचायक हो सकता है। वास्तव में हिंदी प्रयास की नहीं, प्रयोग की भाषा है। किसी भाषा को ऐतिहासिक संदर्भ में ही देखा-परखा जाना चाहिए। मौलवी वहीउद्दीन सलीम ने अपनी रचना 'वजै इस्तलाहात' में ठीक ही लिखा है, "हिंदी को हम अपनी जबान (उर्दू) के लिए उमलिस्सान और हमूलाए अव्वल कह सकते हैं। इसके बगैर हमारी जबान की कोई हस्ती नहीं है।"

विदेशी सरकारों ने भी अपने-अपने यहां हिंदी की शिक्षा-दीक्षा देकर उसका प्रचार-प्रसार बढ़ाने की व्यवस्था की है। इस दिशा में सोवियत संघ का कार्य सर्वोपरि उल्लेखनीय है। वहां के कई विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में हिंदी भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन को विशेष महत्व का स्थान देकर बढ़ावा दिया गया है। ताशकंद के माध्यमिक विद्यालय सं० १४ हिंदी का है जहां गत सत्रह वर्षों से हिंदी पढ़ने की व्यवस्था है। यह पढ़ाई दूसरी कक्षा से आरंभ की जाती है। आठवीं कक्षा से हिंदी के प्रसिद्ध कवियों, कथाकारों तथा नाटककारों की रचनाएं पढ़ायी जाती हैं। अंतिम तीन कक्षाएं हिंदी में वार्तालाप करने का अभ्यास कराती हैं और यहां हिंदी साहित्य के पठन-पाठन को बढ़ावा दिया जाता है। लेनिनग्राड के बोर्डिंग स्कूल सं० ४ में भी दूसरी कक्षा से हिंदी का अभ्यास कराया जाता है। वहां के छात्र न केवल हिंदी लिखने-बोलने का अभ्यास करते हैं अपितु हिंदी-गायन तथा कविता-पाठ में भी रुचि लेते हैं। रूस में हिंदी के आज इतने अच्छे जानकर हो गए हैं कि विश्वविद्यालयों के स्तर तक के अध्यापन की व्यवस्था स्वयं रूसी प्राध्यापक चलाने लगे हैं। गैरासिम लेबिदेफ़ रूस में पहले हिंदी-प्रचारक हैं जिन्होंने सन् १८०१ ईसवी में हिंदी व्याकरण का प्रकाशन कराया।

सन् १९१८ ईसवी से ही रूस में भारतीय भाषाओं का अध्ययन हुआ। ताशकंद में उसी वर्ष प्राच्य विद्या संस्थान की स्थापना हुई। दूसरे वर्ष मास्को तथा लेनिनग्राड में भी ऐसे संस्थान खोले गए जहां से हिंदी शब्दकोश तथा हिंदी व्याकरण प्रकाशित कराये गए। हिंदी प्रचार की दिशा में उल्लेखनीय कार्य पी. ए. वरान्निकोव का था। इन्होंने सन् १९४०-५० ईसवी के बीच हिंदी में पाठ्य पुस्तकों की रचना भी की। इन्हीं के द्वारा 'रामचरित मानस' का रूसी अनुवाद भी प्रस्तुत हुआ। आज भी दुशांबे जैसे विद्वान तुलसीदास पर निबंध तैयार कराने में लगे हैं और उनके साहित्य के अध्ययन में तल्लीन हैं। यूरीत्वेस्तकोव भी तुलसीदास पर निबंध तैयार करने में लगे हैं और 'सूरदास की सृजनात्मक कृति' पर शोध-प्रबंध भी लिख चुके हैं। ये मध्यकालीन अवधी और ब्रजभाषा के जाने-माने विद्वान हैं। एशियाई-अफ्रीकी इंस्टीट्यूट के अध्यापक एन. साजोनोव भी तुलसी-साहित्य के अध्ययन में रत हैं। इधर चेतराना ने 'दिनकर साहित्य' पर काम किया है।

रूस में हिंदी साहित्य ही नहीं, हिंदी भाषा और व्याकरण पर भी कार्य हो रहा है। इस क्षेत्र में कार्य करनेवालों में मे. पी. चेलिशेव, वी. चेर्नीशोव और ओ. जी. उल्तीफ़रोव के नाम आदरपूर्वक लिये जा सकते हैं। उल्तीफ़रोव ने एम. ए. के लिए 'आधुनिक हिंदी के मिश्रित वाक्यों का विवरण' विषय पर शोध-प्रबंध लिखा है। आगे चलकर इन्होंने 'हिंदी में समास' पर भी एक निबंध लिखा है। दो खंडों में 'हिंदी पाठ्य पुस्तक' तैयार करनेके उपलक्ष में इन्हें सन् १९६९ ई० में 'नेहरू पुरस्कार' भी मिल चुका है। चेर्नीशोव ने 'हिंदी में सरल वाक्य विन्यास' पर काम किया है।

ए. ए. वरान्निकोव भी हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। यहां हिंदी पुस्तकों के बीस हजार तक के संस्करण प्रकाशित होकर बिक जाते हैं। इससे भारत के हिंदी प्रकाशनों की खपत की तुलना करना अप्रासंगिक न समझा जायगा।

अमेरिका में भी हिंदी के अध्ययन की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। वहां के बीसियों विश्वविद्यालयों में विभिन्न स्तरों पर हिंदी पढ़ने-पढ़ाने की व्यवस्था है। कई स्थानों पर शोध-केंद्र भी स्थापित किये गए हैं। ऐसे विश्वविद्यालयों में बर्कले, शिकागो, कैलिफोर्निया, फिलाडेल्फिया, विसकांसिन, पेंसिलवानिया आदि के नाम गिनाये जाते

हैं। इनके अतिरिक्त इलिनाय स्टेट विश्वविद्यालय, कोलंबिया विश्वविद्यालय, टेक्सास विश्वविद्यालय, मैनसोटा विश्वविद्यालय तथा ड्यूक विश्वविद्यालय और मिशिगन स्टेट के दोनों विश्वविद्यालयों—एन. अर्बाना तथा ईस्टलासिंग में किसी-न-किसी स्तर पर हिंदी सीखने की व्यवस्था की गई है। वहां हिंदी भाषा तथा साहित्य को एक विषय के रूप में पढ़ाया जाता है और उसे लेकर डाक्टरेट की डिग्री तक ली जा सकती है। इनके अपने पाठ्यक्रम हैं और अपने सहयोगियों सहित प्रो० गंपर्स ने 'हिंदी रीडर' तथा 'कन्वर्शेसनल हिंदी-उर्दू' तैयार किया है। अन्य कई अध्यापकों ने भी 'बेसिक हिंदी कोर्स' प्रस्तुत किया है।

इंगलैंड में हिंदी के अध्ययन-अध्यापन का कार्य वर्षों से चला आ रहा है। इसी उद्देश्य को भी ध्यान में रखकर 'लंदन स्कूल आफ ओरियंटल स्टडीज' की स्थापना की कई है। सन् १९६८ ईसवी से ही लीड्स विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्ययन की व्यवस्था आरंभ की गई है। लंदन स्कूल में बी. ए. तक की पढ़ाई की जाती है। जहां पर साहित्य के अतिरिक्त शब्दकोश तथा व्याकरण पर भी शोध-कार्य करने की विशेष साधन-सुविधा है। इस संदर्भ में एफ. आ. आलिचिन (केंब्रिज) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होंने 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' पर महत्वपूर्ण कार्य करके ख्याति-अर्जन किया है। वर्टनपेज (लंदन) और एस. मैग्रेगर के भी ऐसे ही प्रसिद्ध नाम हैं।

जर्मनी के हमबोल्ट विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम सन् १९५५ ईसवी में हिंदी के अध्ययन का सूत्रपात हुआ था। परंतु पाठ्य-पुस्तकों के अभाव में वहां हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं से ही हिंदो का परिचय करने में सहायता ली जाती है। तारकनाथ दास द्वारा सन् १९२९ ईसवी में स्थापित म्यूनिख की सार्वजनिक संस्था 'इंडिया इंस्टीट्यूट' हिंदी-प्रचार में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है। इसी प्रकार स्टूटगार्ट की 'इंडो-जर्मन सोसाइटी' में भी हिंदो-अध्ययन करने का प्रबंध है।

चेकोस्लोवाकिया में ओताकार पेर्तोंदल ने सन् १९२५ ईसवी में हिंदी-प्रचार का कार्य आरंभ किया। उन्होंने चार-पांच वर्ष के पश्चात् हिंदी की पाठ्य पुस्तकें तैयार की जो बीस वर्षों तक चलती रहीं। यहाँ के विन्सेंत्स पोरिज्का ने रिकार्ड सुनकर हिंदी और बंगला का परिचय प्राप्त किया। इनकी देखरेख में 'ओरियंटल इंस्टीट्यूट' द्वारा हिंदी का विधिवत अध्ययन आरंभ हुआ। सन् १९६७ ईसवी तक ये

हिंदी का विधिवत अध्ययन आरंभ हुआ। सन् १९६७ ईसवी तक ये हिंदी विभाग के अध्यक्ष पद पर काम करते रहे। इस अवधि में इन्होंने पाठ्य पुस्तकें तथा हिंदी व्याकरण लिखने के साथ-साथ कई शोध-निबंध भी लिखा। प्राग स्थित चार्ल्स विश्वविद्यालय के 'ओरियंटल इंस्टीट्यूट' द्वारा हिंदी के प्रचार-प्रसार की व्यवस्था की गई है। इन दिनों वहां ओडोलन स्मेकल हिंदी विभाग के अध्यक्ष हैं। इन्होंने हिंदी साहित्य का इतिहास तथा पाठ्य पुस्तकें भी तैयार की हैं। इसके अतिरिक्त चेक भाषा में लिखित इनकी 'हिंदुस्तानी-हिंदी' भी एक महत्वपूर्ण कृति है जिसमें हिंदी पढ़ने और नागरी लिखने की पद्धति समझायी गई है। इसकी भूमिका में स्मेकल ने लिखा है, "हिंदी बोलने वालों की संख्या और सांस्कृतिक महत्व दोनों दृष्टियों से हिंदी विश्व की प्रमुख भाषाओं में एक है।"

पोलैंड में इधर कुछ वर्षों से हिंदी की ओर ध्यान आकर्षित हुआ है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप वारसा में हिंदी के अध्ययन की व्यवस्था की गई है। 'पेदरेवस्की फाउंडेशन' ने इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसके संरक्षण में कई छात्रों को भारत भेजा गया है। आनेसकोवाल्स्का ने इसी योजना के अंतर्गत 'हिंदी की नई कविता' पर प्रयाग विश्वविद्यालय से शोध-कार्य किया है।

हालैंड में भी हिंदी-प्रचार का कार्य चल रहा है। लेडेन निवासी डेविड मिल ने सन् १९७२ ईसवी में रचित हिंदी व्याकरण का डच अनुवाद प्रस्तुत किया। प्रो० वोगेल ने प्रेमचंद की कई कहानियों का अनुवाद किया है।

जापानी छात्र प्रतिवर्ष भारतीय विश्वविद्यालयों में हिंदी सीखने आते हैं। वहां अंग्रेजी से अधिक हिंदी के जानकार पाये जाते हैं। टोकियो विश्वविद्यालय के प्रो० के. दोई हिंदी का विशेष अध्ययन करने भारत आए थे। कोकीनागा नामक विद्यार्थी भी वर्धा में हिंदी सीखने आया था। इनमें हिंदी संबंधी सूक्ष्म जानकरी प्राप्त करने की ललक एवं लगन पायी जाती है।

दक्षिण कोरिया में सिउल के हांगकुक विश्वविद्यालय में सन् १९७२ ईसवी से हिंदी की पढ़ाई आरंभ हुई है। इन दिनों पांच दर्जन छात्र-छात्राएं वहां हिंदी पढ़ रही हैं। वहां हिंदी सीखने के प्रति अधिक उत्साह पाया जाता है। भारतीय नृत्य, नाट्य तथा संगीत में वे विशेष रुचि

प्रदर्शित करते हैं। 'सीता स्वयंवर' का वहां सफल मंचन हुआ है। उत्तरी कोरिया में भी हिंदी के प्रति अनुराग है।

बर्मा में जापानी आक्रमण के पूर्व हिंदी का प्रचलन अधिक उन्नत अवस्था में था जो न्यूनाधिक मात्रा में आज भी प्रचलित है। वहां से हिंदी पत्र-पत्रिकाएं भी पहले प्रकाशित हुआ करती थीं जिनमें 'स्वतंत्र भारत', 'बर्मा समाचार' और हस्तलिखित मासिक पत्रिका 'साहित्य' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वहां का 'मारवाड़ी पुस्तकालय' हिंदी पत्र-पत्रिकाओं की दृष्टि से समृद्ध है। रंगून में एक हिंदी का प्रेस भी है।

फिजी में हिंदी के चार साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होते हैं। वहां के प्रवासी भारतीयों में हिंदी के प्रति अत्यंत अनुराग पाया जाता है। यही कारण है कि हिंदी फिल्में वहां बहुत लोकप्रिय हैं।

विदेशों में हिंदी-प्रचार के लिए भारत सरकार द्वारा भी एक योजना का कार्यान्वयन किया जाता है। केंद्रीय हिंदी समिति के निर्णयानुसार केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा सन् १९६९ ईसवी से ही यह कार्य संपन्न किया जा रहा है। इसके द्वारा सन् १९७१ ईसवी में जो कार्यक्रम निर्धारित किये गए वे इस प्रकार हैं : पुस्तकालयों की स्थापना, हिंदी के उच्च अध्ययन के लिए छात्रवृत्ति, द्विभाषी शब्दकोशों का प्रकाशन, हिंदी शिक्षकों की नियुक्ति, साहित्य, पत्रकार तथा प्रकाशकों को विदेश भेजना और संबद्ध देशों में हिंदी को बढ़ावा देना। इसी कार्यक्रम के अनुसार पैंतीस हजार की छह हजार हिंदी पुस्तकें भारतीय दूतावास के माध्यम से नेपाल को भेंट की गई। वहां पचपन हजार मूल्य के एक संपन्न हिंदी पुस्तकालय की स्थापना पहले ही की जा चुकी है। एक भारतीय पुस्तकालयाध्यक्ष भी कई वर्षों से वहाँ काम कर रहा है।

इसके अतिरिक्त कैरेबियन देशों—घाना, गुइयाना, मारीशस, सुरीनाम और ट्रिनिडाड—को पचास हजार मूल्य की हिंदी पुस्तकें पुस्तकालय खोलने के लिए दी जा चुकी हैं। इस वर्ष भी बारह सौ पैंतालीस रुपये की पाठ्य पुस्तकें बर्मा, सिंगापुर और ट्रिनिडाड भेजी जा रही हैं।

इन देशों में भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् द्वारा पहले से नियुक्त तीन हिंदी-शिक्षक काम कर रहे हैं। इनमें से ट्रिनिडाड का शिक्षक टोबैगो के हिंदी शिक्षाबोर्ड के सहयोग में काम करते हुए पैंतीस हिंदी विद्यालयों की देखभाल करता है और उच्च कक्षा के छात्रों का अध्यापन भी करता है। सुरीनाम में भारतवर्ष से दस हजार मूल्य

की हिंदी पुस्तकें प्रति वर्ष भेजी जाती है। कुछ वर्षों से वहां एक हिंदी प्रेस भी काम करने लगा है। हिंदी टाइपराइटर भी यहां से भेंट किये गए हैं। वहां पर नियुक्त शिक्षक एक सौ से अधिक विद्यालयों में हिंदी-शिक्षा का कार्य-संचालन करता है। इनमें से चौवन विद्यालय केंद्र का काम करते हैं। इनमें राष्ट्रभाभाषा प्रचार समिति, वर्धा के पाठ्यक्रम को लागू किया गया है। गुइयाना में भारतीय हिंदी संस्थाओं द्वारा संचालित परीक्षाओं में प्रतिवर्ष सात सौ तक परीक्षार्थी सम्मिलित होते हैं। मारीशस के भी हिंदी प्रेमी भारतीय हिंदी संस्थाओं से संपर्क-संबंध बनाये रहते हैं। भारत सरकार ने मारीशस को सन् १९७३ ईसवी में लगभग एक लाख लागत का एक प्रेस अर्पित किया है। हिंदी में पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशन के लिए एक अधिकारो भी वहां भेजा जा रहा है। वहां के दो नागरिक मुद्रण-प्रशिक्षण में पारंगत हो चुके हैं। कुछ नागरिकों को वहां हिंदी के उच्च अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियां भी दो गई हैं। सन् १९७३-७४ ईसवी में फिजी के भी कुछ नागरिकों ने छात्रवृत्तियां प्राप्त की हैं। इसके अतिरिक्त भारत सरकार द्वारा एक टाइपराइटर फिजो सरकार को और दूसरा फिजी हिंदी परिषद् को दिये गए हैं।

श्रीलंका, ईरान, वेस्टइंडीज, रूमानिया, युगोस्लाविया और आस्ट्रेलिया में भी भारतीय विद्या के प्राध्यापक हिंदी-शिक्षा की प्रगति की देखभाल रखते हैं। भारतोय सांस्कृतिक संबंध परिषद् द्वारा भी छात्रवृत्तियां दिये जाने की व्यवस्था है।

निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार शब्दकोश प्रकाशन की योजना भो प्रगति कर रही है। फिजियन-हिंदी शब्दकोश बनकर तैयार है। जर्मन-हिंदी, हिंदी-जर्मन, चेक-हिंदी, हिंदी-चेक, नेपाली-हिंदी, हिंदी-नेपाली शब्दकोश निर्माणाधीन है।

पुस्तक-प्रदर्शनी का कार्यक्रम भी मारोशस, नेपाल और फिजी में संपन्न हो चुका है। मारीशस में तुलसी-साहित्य प्रदर्शनी आयोजित है। हिंदी महापरिषद्, फिजी को तुलसो कैलेंडर की प्रतियां भेजी गई हैं और मानस की प्रतियां भेजने की व्यवस्था भी की जा रही है।

पचास लाख भारतवासी इस समय विभिन्न देशों में फैले हुए हैं। इनमें से एक लाख से अधिक संख्या वाले प्रवासी भारतीयों की जन-संख्या इस प्रकार है : श्रीलंका १२.३४ लाख, मलेशिया ८.२५ लाख, मारीशस ५.२५ लाख, गुइयाना ३.५० लाख, ट्रिनिडाड और टोबैगो

३.०२ लाख, बर्मा २.७२ लाख, फिजी २.५० लाख, केनिया १.७५ लाख, सिंगापुर १.२५ लाख, तंजानिया १.०२ लाख और सुरीनाम १.०१ लाख। इनमें से कुछ देशों में हिंदी-भाषियोंका बहुमत भी है।

यह एक विलक्षण बात है कि भारत सरकार का शिक्षा-मंत्रालय जहां एक ओर संविधान-सम्मत राजभाषा हिंदी के प्रचार-प्रसार में थोड़ी-बहुत सजगता एवं सक्रियता का परिचय देता है, वहां दूसरी ओर विदेश-विभाग अभी तक मास्को, हेग, लंदन, करांची, पेकिंग, न्यूयार्क, टोकियो, मारीशस, ट्रिनिडाड आदि कुछ ही दूतावासों से हिंदी-टंकण की व्यवस्था कर सका है। इसी प्रकार मास्को, प्राग, कंधार, हनोई, काठमांडू, बूडापेस्ट और सानफ्रांसिसको स्थित दूतावासों में ही हिंदी-पत्रों के उत्तर हिंदी में देने की व्यवस्था है।

भूतपूर्व प्रधान मंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कई बार भारतीय राजदूतों को सावधान किया था कि विदेशियों से वे हिंदी में ही वार्ता-व्यवहार किया करें। परंतु इसकी उपेक्षा तथा उल्लंघन करने के कारण कई बार विदेशियों के सामने भारत की हास्यास्पद स्थित बन गई। नौकरशाही ने न तो संविधान की चिंता की, न प्रधान मंत्री के सुझावों का सम्मान। भारत सरकार को इस चित्य स्थिति पर पुन-विचार करना चाहिए।

यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि भारत जैसे विशाल देश की राजभाषा हिंदी अभी तक संयुक्त राष्ट्र की स्वीकृत भाषा नहीं बन सकी है। जन-संख्या के आधार पर भारत में बोली जाने वाली हिंदी का अनुपात विश्व की तीसरी भाषा के स्थान पर है। यदि इसमें विदेशों में बोली जाने वाली हिंदी को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो इसे सहज ही दूसरा स्थान प्राप्त हो जाएगा। जन-संख्या की दृष्टि से विश्व की भाषाओं की स्थिति इस प्रकार है : चीनी ६० करोड़, अंग्रेजी ३३ करोड़, हिंदी २९ करोड़, रूसी २० करोड़, स्पेनिश १८ करोड़, और अरबी १० करोड़। इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य एवं ध्यातव्य है कि सन् १९७३ ईसवी में अरबी को संयुक्त राष्ट्र की भाषा स्वीकार कर लिया गया है।

विश्व हिंदी सम्मेलन को हिंदी की इस दारुण दशा पर गंभीरता पूर्वक विचार-विमर्श कर हिंदी को संयुक्त राष्ट्र की भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने के यश का भागी बनना चाहिए।

●

ब्रिटिश शासन में हिंदी

'हिंदी' शब्द जिसका प्रयोग आज राष्ट्रभाषा अथवा राजभाषा के लिए होने लगा है, मुस्लिम शासन-काल में पहले पहल 'सुबए हिंद' के निवासियों के लिए हुआ करता था। इस क्षेत्र की अन्य भाषाओं में 'भाखा' और 'पूरबी' आदि के नाम लिये जाते थे। भाषा के लिए 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग अंग्रेजों के शासन-काल में आरंभ हुआ था। यह भाखा 'सुबए हिंद' की भाषा थी जिसमें तद्भव अथवा देशज शब्दों के प्रयोग अधिकतर हुआ करते थे। संस्कृत अथवा अरबी-फ़ारसी के तत्सम शब्दों के प्रयोग प्रयास पूर्वक नहीं किये जाते थे। परंतु इसका एक अन्य रूप भी देखने में आता है जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का बाहुल्य रहा करता था। उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग चतुर्थ दशक तक इसी भाषा से काम लिया जाता था।

परंतु धीरे-धीरे अन्यान्य आधुनिक भाषाओं की ओर भी विदेशी विद्वानों का ध्यान जाने लगा। इनमें से प्रमुख गिलक्राइस्ट थे जो सन् १७८३ ईसवी में यहां आये थे। सन् १८०० ईसवी के बीच प्रकाशित डिक्शनरी, ग्रामर और लिंग्विस्ट नामक तीन महत्वपूर्ण ग्रंथ इन्हीं के प्रयास के सुफल थे। परवर्ती हिंदी भाषा के निर्माण में इन ग्रंथों का भी प्रचुर प्रभाव पड़ा। नागरी लिपि का प्रयोग होने पर भी भाषा के स्वरूप में कोई अंतर न आ सका साथ-साथ फ़ारसी लिपि का प्रयोग भी चलता रहा।

इसी 'हिंदुस्तानी' भाषा को उन दिनों हिंदी, हिंदवी, उर्दू, उर्दूवी, और रेख्ता भी कहा गया। 'हिंदुई' केवल हिंदुओं की भाषा समझी जाती थी। इस भाषा का प्रचार मुसलिम शासन-काल के पूर्व था। विलियम बेली (सन् १८०२ ईसवी) भी 'हिन्दुस्तानी' को ही हिंदी मानते रहे। सर विलियम जोंस ने जो प्रथम बार सन् १७८३ ईसवो में भारत आये थे गंजा बेगम के गज़ल को 'हिंदी' का प्रथम गज़ल स्वीकार किया है।

आधुनिक अर्थ में हिंदी शब्द का प्रयोग हिंदुस्तानी के विभागीय अध्यक्ष कैप्टन टेलर ने सन् १८१५ ईसवो में किया था, किंतु इसे अपवाद स्वरूप ही समझा जाना चाहिए। वास्तव में कैप्टन विलियम प्राइस ने

सन् १८२४ ईसवी में 'हिंदी' और 'हिंदुस्तानी' का भेद ध्यान में रख कर 'हिंदी' शब्द का आधुनिक प्रयोग किया था। फलस्वरूप 'भाखा' के पंडितों तक को 'हिंदी' का अभ्यास करना पड़ा था। यहीं से 'हिंदी' और 'हिंदुस्तानी' के भेद का आरंभ हुआ। फिर भी श्रीरामपुर के मिशनरी 'हिंदी' को 'हिंदुस्तानी' का एक रूप ही मानते रहे। आगे चल कर 'हिंदी' के लिए प्रयुक्त सभी पर्यायवाची शब्दों का लोप हो गया और 'हिंदी' का भाषा के अर्थ में प्रयोग होने लगा।

'हिंदी' भाषा का अंग्रेज शासकों की भाषा-नीति से गहरा संबंध रहा है। सन् १८३७ ईसवी में राजकाज के लिए एक घोषणा द्वारा देशी भाषाओं का महत्व स्वीकार कर लिया गया और फ़ारसी को अपदस्थ कर दिया गया। इसके बाद की भाषा-नीति अपनी पूर्ववर्ती नीति से भिन्न प्रकार की थी। पूर्ववर्ती भाषा का एक संबंध तत्कालीन ईसाई मिशनरियों की भाषा नीति से भी था, किंतु उसे शासकीय भाषा-नीति का समर्थन प्राप्त न था।

भारतवर्ष में ईसाई धर्म का प्रचार करते-करते मिशनरियों को पता चला कि स्थानीय भाषाओं की जानकारी किये बिना अपने उद्देश्य की पूर्ति संभव नहीं। इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने भाषाओं का अध्ययन आरंभ किया। इसके पीछे जिज्ञासा से अधिक उपयोगिता की दृष्टि थी। अंग्रेजी मिशनरी टामस स्टीवेंस ने पहले-पहल सन् १५७९ ईसवी में यहाँ आकर भाषाओं के अध्ययन में अपनी रुचि प्रदर्शित की और मराठी का एक क्रिश्चियन पुराण और कोंकणी भाषा का एक व्याकरण भी पुर्तगाली भाषा में लिखा। उन्हें संस्कृत का भी ज्ञान था। अकबर तथा जहांगीर के शासन-काल में ईसाई मिशनरी आगरे से मिथिला तक फैल गए थे। उत्तर भारत की भाषाओं से परिचित मिशनरियों में जान एल्ड्रेड, जान न्यू बेरी आदि के नाम लिये जाते हैं। कहा जाता है कि फादर एंटानियो डि एंड्रेडा सन् १६०० ईसवी में आगरे आये थे। बादशाह जहांगीर से उनका संपर्क था और उर्दू में साफ-साफ बोल लेते थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के एक चार्टर (सन् १६९८ ईसवी) में सभी व्यवसायी संस्थाओं तथा फैक्टरियों में एक-एक पादरी की नियुक्ति की व्यवस्था की गई जिनका देशी भाषाओं से परिचित होना अनिवार्य था। इस प्रकार जिस बात की ओर पुर्तगाली मिशनरियों का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ था उस ओर अंग्रेज मिशनरियों का ध्यान गया और उन्होंने

सांस्कृतिक अध्ययन के साथ-साथ भारतीय भाषाओं के ज्ञानार्जन द्वारा भी लाभ उठाया।

इसके विपरीत शासकीय वर्ग की भाषा-नीति उनकी शिक्षा-नीति से जुड़ी हुई थी जिसका उद्देश्य सर्व साधारण को शिक्षित बनाने का नहीं था। मेकाले की शिक्षा-नीति का मुख्य उद्देश्य शासक और शासित के बीच दुभाषिया तैयार करना था। इसके लिए उनका ध्यान स्वभावतः उस वर्ग पर जा टिका जो रंगरूप में तो भारतीय था, किंतु विदेशी संस्कार के लिए उर्वर था। इस प्रकार उनकी ओर से देशी भाषाओं को कोई उल्लेखनीय प्रश्रय अथवा प्रोत्साहन प्राप्त न हो सका।

वारेन हेस्टिंग्स ने पहले पहल सन् १७८० ईसवी में भारतीय भाषाओं की शिक्षा के लिए उपयुक्त संस्थाओं की स्थापना की ओर ध्यान दिया। फिर बंबई के गवर्नर एलफिस्टन (सन् १८१९-२७ ईसवी) ने देशी भाषा वाली संस्थाओं द्वारा लोकप्रिय शिक्षा के प्रचार-प्रसार के पक्ष में अपना मत दिया, किंतु वह सरकारी समर्थन प्राप्त न कर सका। अदम रिपोर्ट में यद्यपि देशी शिक्षा-पद्धति और देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा देने का समर्थन था, तथापि भी लार्ड आकलैंड को यह स्वीकार्य न हुआ। परंतु आगे चलकर अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया कि शिक्षा की दृष्टि से न सही, शासन के हित में देशी भाषाओं का महत्व स्वीकार किया जाना चाहिए। फलस्वरूप न्याय तथा शासन-संचालन के लिए उन भाषाओं को प्रयोग में लाने का आदेश मिला जिनसे जनता भलीभांति परिचित हो। इस प्रकार प्रांतीय भाषाओं ने फ़ारसी को स्थानापन्न कर लिया।

परंतु सरकार अपनी शिक्षा-नीति पर अधिक समय तक दृढ़ न रह सकी और उसे उस पर पुनर्विचार करना पड़ा। परिणामतः उत्तर भारत की शिक्षा-नीति में परिवर्तन लाना पड़ा और सन् १८४३ ईसवी के २९ अप्रैल को प्रस्ताव पारित कर उसने 'आगरा व अवध' की शिक्षा का भार बंगाल सरकार से खींचकर प्रांतीय सरकार पर डाल दिया। उन दिनों तीन कालेजों के अतिरिक्त नौ एंग्लो वर्नाक्युलर स्कूल भी सरकारी खर्चे पर चलते थे जिनमें देशी भाषाओं को शिक्षा देने की व्यवस्था की गई। इनकी सफलता ने आगे चलकर व्यापक प्रभाव डाला। तत्कालीन प्रांतीय लेफ्टिनेंट गवर्नर थामसन थे। उनके मतानुसार देशी भाषाओं के माध्यम से ही सामूहिक शिक्षा संभव थी, अंग्रेजी द्वारा नहीं। यह लोक भाषाओं की अपूर्व विजय की। इसके पूर्व के स्कूलों में प्रचलित

हिंदी-शिक्षा की स्थिति जानने के लिए जेनरल कमेटी आफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन सन् १८३९-४० ईसवी की रिपोर्ट और एजूकेशन रिपोर्ट नार्थवेस्ट प्राविंसेज १८८४ का परिशिष्ट देखना चाहिए। इसके अतितिक्त राबर्ट मे जैसा निष्पक्ष व्यक्ति भी था जिसने बंगाल में देशी भाषाओं की शिक्षा के सन् १८१५ ईसवी में स्वतंत्र स्कूल खोल रखा था।

सन् १८४४ ईसवी में जे. जे. मूर को वर्नाक्यूलर स्कूलों आदि में पाठ्य पुस्तकों को निर्धारित करने की नीति पर सुझाव देने का कार्य-भार सौंपा गया। २ सितंबर १८४४ ईसवी को उन्हें थार्नटन ने पत्र लिखा कि "अंग्रेजी, ओरियंटल तथा वर्नाक्यूलर स्कूलों के लिए उन्हें पुस्तकों की सारी जानकारी प्राप्त करनी होगी। उनका पहला काम ऐसी पुस्तकों की एक विस्तृत सूची तैयार कर आवश्यक पुस्तकों की सूचना देनी होगी। संस्कृत-फ़ारसी तथा अरबी की उन पुस्तकों का विवरण देना भी आवश्यक है जो प्रकाशित अथवा प्रचलित हैं। परंतु हिंदी एवं उर्दू की सूची बिल्कुल पूरी होनी चाहिए।.... स्कूली पुस्तकों के विषय में उनका निर्णय अंतिम होगा।" यह उदाहरण एजुकेशनल रिकार्ड्स भाग दो सन् १८४०-५९ ईसवी नार्थवेस्ट प्राविंसेज के एक अंश का अनुवाद है।

देशी भाषाओं अथवा हिंदी की लोकप्रियता के संबंध में थामसन का मत उल्लेखनीय है। उसने अपनी रिपोर्ट में एक स्थल पर लिखा है, "हिंदी भाषा ही जनता की पसंद की भाषा थी। उन दिनों पंडित केवलराम का जनता पर पर्याप्त प्रभाव था। उनके प्रभाव के कारण संस्कृत व्याकरण तथा काव्य के जानकार कुछ लोग थे। परंतु अरबी के अच्छे विद्वान प्रायः नहीं के बराबर थे। उर्दू और फ़ारसी के प्रति जनता की रुचि अत्यधिक कम थी।" इसी प्रकार बनारस कालेज पर रिपोर्ट देते हुए केप्टन मार्शल ने सन् १८४१ ईसवी में लिखा कि "एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा जब कि देशी भाषाएं इस स्थिति में पहुंच जाएंगी कि अंग्रेजी की कोई आवश्यकता ही न रह जाएगी और सभी प्रकार का ज्ञान इन देशी भाषाओं के माध्यम से संभव हो जाएगा।" इस संदर्भ में यह लक्ष्य करने की बात है कि गोरे साहबों को जिस निष्कर्ष पर पहुंचने में विलंब न लगा था, उसे हृदयंगम करने में आज भी हमारे काले साहब अपने को असमर्थ पा रहे हैं।

ब्रिटिश शासन के पूर्व क्षेत्रीय अथवा स्थानीय बोलियों की ही अपनी-अपनी सीमा में प्राधान्य था। अवधी तथा ब्रजभाषा मुख्यतः काव्य

भाषाएं थीं। राजकाज में फ़ारसी का प्रचलन था। केंद्रीय अथवा प्रांतीय सत्ता पर विदेशी आधिपत्य होने के कारण तत्कालीन सरकार द्वारा किसी देशी भाषा के प्रयोग का प्रश्न न उठना स्वाभाविक ही था। परंतु अंग्रेज केवल शासक ही न थे, व्यपारी भी थे। उन्हें जन-संपर्क का महत्व मालूम था। अतएव किसी एक ऐसी भाषा को प्रश्रय देना उनके लिए अनिवार्य था जो अधिकाधिक लोगों में काम की हो। दिल्ली के संपर्क में आने के कारण उन्हें खड़ीबोली हिंदी का परिचय मिला जो अपेक्षाकृत उर्दू के निकट लगती थी। बोलचाल की ऐसी भाषा को ही सामान्य व्यवहार का माध्यम चुनना उन्हें हितकर जान पड़ा। अंग्रेजों की कार्य-पद्धति अपनी पूर्ववर्ती कार्य-प्रणाली से भिन्न प्रकार की थी। जो कार्य पहले मौखिक रूप से चल रहा था वह अब लिखित रूप में होने लगा। इसलिए भाषा विकसित हुई जिसकी शिक्षा देना आवश्यक था। इसकी पूर्ति के लिए शब्दकोश तथा व्याकरण आदि तैयार करते रहने की ओर ध्यान गया। फोर्ट विलियम कालेज इसका केंद्र बना। गिलक्राइस्ट जटिल उर्दू के पक्षपाती होकर भी हिंदी के प्रचार में सहायक बने। वैज्ञानिक उन्नति और आद्यौगिक विकास के कारण जीविका के नए-नए द्वार खुले जिनके माध्यम से हिंदी शब्द-भंडार समृद्ध हुआ। यही नहीं एक नई गद्य-शैली का भी विकास हुआ और साथ ही साथ इस भाषा में पद्य-रचना का भी सूत्रपात हुआ।

दक्षिण भारत में हिंदी-प्रचार आंदोलन का सूत्रपात

नवजागरण के पूर्व से ही भाषाई चेतना प्रबुद्ध हो गई थी और धीरे-धीरे एक भाषा को अपनाने की प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी थी। इसी प्रवृत्ति ने कालांतर में आंदोलन का रूप धारण कर लिया था। सन् १८२६ ईसवी में राजा राममोहन राय ने 'बंगदूत' का प्रकाशन आरंभ किया था जो हिंदी, बंगला और अंग्रेजी में प्रकाशित होता था। महर्षि दयानंद ने केशवचंद्र सेन की प्रेरणा से हिंदी का अभ्यास किया था और सन् १८७४ ईसवी में उन्होंने काशी में हिंदी का प्रथम भाषण दिया था। सन् १८७५ ईसवी में केशवचंद्र सेन ने हिंदी भाषा को लक्ष्य कर कहा था, "अभी जितनी भी भाषाएं भारत में प्रचलित हैं, उनमें हिंदी भाषा ही सर्वत्र प्रचलित है। इसी हिंदी को भारतवर्ष की एकमात्र भाषा स्वीकार कर लिया जाय तो सहज ही यह (एकता) संपन्न हो सकती है।" सन् १८८५ ईसवी में डी. ए. वी. कालेज की स्थापना लाहौर में हुई थी जिसका उद्देश्य हिंदी भाषा को प्रश्रय एवं प्रोत्साहन देना भी था। इसकी पूर्ति के लिए महात्मा हंसराज ने स्वयं हिंदी सीखी और दूसरों में भी उसके प्रति रुचि एवं लगन पैदा की। कालेज में प्रत्येक विद्यार्थी के लिए हिंदी पढ़ना अनिवार्य था।

इन जैसे स्फुट प्रयासों के अतिरिक्त लोकमान्य तिलक के समय से ही एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता की ओर ध्यान केंद्रित होने लगा था। स्वयं तिलक जी का हिंदी-प्रेम उनकी राष्ट्रीय भावना की उपज थी। राष्ट्रव्यापी आंदोलन के संचालन के लिए वे एक राष्ट्रभाषा के उपयोग की आवश्यकता अनुभव करने लगे थे। उन्होंने एक स्मरण-पत्र के उत्तर में लिखा था, "राष्ट्रभाषा की आवश्यकता अब सर्वत्र समझी जाने लगी है। राष्ट्र के संगठन के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है जिसे सर्वत्र समझा जा सके। लोगों में अपने विचारों का अच्छी तरह प्रचार करने के लिए भगवान बुद्ध ने भी एक भाषा को प्रधानता देकर कार्य किया था। हिंदी राष्ट्रभाषा बन सकती है। राष्ट्रभाषा सर्वसाधारण के लिए जरूर होनी चाहिए।"

सन् १९०५ ईसवी में नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा आयोजित एक सम्मेलन हुआ था जिसकी अध्यक्षता रमेशचंद्र दत्त ने की थी। यहीं पर लोकमान्य ने हिंदी को राष्ट्रभाषा और देवनागरी को राष्ट्रलिपि घोषित किया था। इस संदर्भ में उन्होंने कहा था, "सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्व की यह बात ध्यान में रखने की है कि एक लिपि निर्धारित करने का यह आंदोलन केवल उत्तर भारत के लिए नहीं है। यह एक बृहत्तर आंदलोन का समष्टि रूप है। मैं कह सकता हूं कि समग्र भारत के लिए एक भाषा मान लेने का यह एक राष्ट्रीय आंदोलन है। क्योंकि किसी जाति के निकट लाने के लिए एक भाषा ही एक महत्वपूर्ण तत्व है। एक भाषा के माध्यम से ही आप अपने विचार दूसरों पर व्यक्त करते हैं।" उन्होंने आगे चलकर यह भी कहा, "हमारा लक्ष्य न केवल समग्र उत्तर भारत के लिए हो, वरन् मैं तो कहूंगा कि आगे चलकर मद्रास के दक्षिणी भाग समेत समस्त भारत के एक भाषा रखने की भी है।" उनके इस आह्वान की गूंज देश के कोने-कोने में फैल गई और उसका सर्वत्र स्वागत हुआ। राष्ट्रीय नेताओं तथा कार्यकर्ताओं ने इसे राष्ट्रीय आंदोलन का रूप देना आरंभ कर दिया और हिंदी-प्रचार राष्ट्रभाषा-प्रचार का पर्याय बन गया।

स्वराज्य आंदोलन विरोध-प्रतिरोध अथवा प्रतिशोध-प्रतिहिंसा पर आधारित था और स्वदेशी प्रयोग का आंदोलन आत्म-निर्भरता की अभिलाषा की अभिव्यक्ति था। गांधीजी के अनुसार, स्वदेशी भावना द्वारा आत्म-चेतना प्रबुद्ध होती है और अपने धर्म, भाषा और संस्कृति के प्रति आस्था उत्पन्न होती है। वे राष्ट्रीय जीवन-निर्माण के लिए सुदृढ़ आधार-शिला की आवश्यकता पर बल देते थे। उनके लिए राष्ट्रीय चेतना मात्र दासता की प्रतिक्रिया न थी अपितु स्वस्थ सामूहिक जीवन व्यतीत करने की अदम्य लालसा थी, एक सहज प्रक्रिया थी। उनके असहयोग आंदोलन को भी इसी भावना से प्रेरणा मिली थी। उनका राष्ट्रभाषा-प्रेम उनकी राष्ट्रीय ऐक्य भावना की एक अभिव्यक्ति थी।

राष्ट्रीय शिक्षा देने के उद्देश्य से ही राष्ट्रीय विद्यालयों, गुरुकुलों और विद्यापीठों की स्थापना हुई थी और उनमें राष्ट्रभाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनाने पर बल दिया जाता था। सन् १९०९ ईसवी में गांधीजी ने अपनी पुस्तक 'हिंद स्वराज्य' में लिखा था, "सारे हिंदुस्तान

के लिए तो हिंदी ही होनी चाहिए। उसे उर्दू (फ़ारसी) या नागरी लिपि में लिखने की छूट रहनी चाहिए। हिंदू-मुसलमानों के विचारों को ठीक रखने के लिए बहुतेरे हिंदुस्तानियों का दोनों लिपियां जानना जरूरी है।" उनके अनुसार, "हिंदी और उर्दू एक ही भाषा के दो नाम हैं।" इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने सन् १९१७ ईसवी में 'गुजरात शिक्षा परिषद्' के भड़ौच वाले अधिवेशन में कहा था, "हिंदी भाषा मैं उसे कहता हूं जिसे उत्तर में हिंदू और मुसलमान बोलते हैं और जो देवनागरी या उर्दू (फ़ारसी) लिपि में लिखी जाती है।" राष्ट्रभाषा-प्रचार में उन्हें भावात्मक एकता दिखायी देती थी। उन्होंने आगे चलकर राष्ट्रभाषा को हिंदी या उर्दू कहने के बजाय 'हिंदुस्तानी' कहना पसंद किया।

राष्ट्रभाषा को हिंदुस्तानी कहने का क्रम आगे भी जारी रहा। सन् १९३३-३४ ईसबी में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार-सभा के दीक्षांत भाषण के अवसर पर श्रीनिवास शास्त्री ने अपना विचार प्रकट करते हुए कहा था, "यद्यपि मैं जनतंत्र का समर्थक और सहायक हूं तथापि मैं सोचा करता हूं कि यदि मुझमें शक्ति-सामर्थ्य होती तो मैं थोड़े समय के लिए भारत का अधिनायक हो जाता। यदि भाग्य से मैं उस पद पर आसीन हो जाता तो मैं कितनी ही योजनाओं का कार्यान्वयन करने की कोशिश करता। उनमें सबसे बढ़कर महत्वपूर्ण कार्य यह करता कि मैं सारे देश में यह आदेश लागू करता कि सारे स्कूलों, कालेजों, सरकारी दफ्तरों और अदालतों की माध्यम-भाषा हिंदुस्तानी बनायी जाय।" परंतु, वास्तव में यह हिंदुस्तानी 'हिंदी-प्रचार सभा' से जुड़ी 'हिंदी' से भिन्न न थी।

गांधी जी की प्रेरणा और प्रभाव से कांग्रेस के दो अधिवेशनों लखनऊ (सन् १९१६ ईसवी) तथा कलकत्ता (सन् १९१७ ईसवी) में दक्षिण भारत में हिंदी-प्रचार करने की आवश्यकता पर बल देकर आंदोलन की भूमिका तैयार कर दी गई थी। फिर सन् १९१८ ईसवी को हिंदी साहित्य सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन ने दक्षिण भारत में हिंदी-प्रचार करने के लिए एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया और इसके लिए वहीं एक योजना भी बनी। उन दिनों दक्षिण के लिए योग्य हिंदी-शिक्षकों और पाठ्य पुस्तकों का अभाव था जिसे लक्ष्य कर गांधी जी ने सम्मेलन के संचालकों से कहा था, "भाषा-प्रचार के लिए हिंदी-शिक्षक होना चाहिए। हिंदी-

बंगाली सीखने वालों के लिए एक छोटी-सी पुस्तक मैंने देखी है, वैसी मराठी में भी है। अन्य भाषाभाषियों के लिए ऐसी पुस्तकें देखने में नहीं आयी हैं। यह काम करना जैसा सरल है, वैसा ही आवश्यक। मुझे उम्मीद है, सम्मेलन इस कार्य को शीघ्रता से अपने हाथ में लेगा।" इस संदर्भ में उन्होंने यह भी कहा, "सबसे कष्टदायी मामला द्रविड़ भाषाओं के लिए है। वहां तो कुछ प्रयत्न नहीं हुआ है। हिंदी भाषा सिखाने वाले शिक्षकों को तैयार करना चाहिए। ऐसे शिक्षकों की बड़ी कमी है। ऐसे एक शिक्षक प्रयाग से आपके लोकप्रिय मंत्री भाई पुरुषोत्तम दास टंडन द्वारा मुझे मिले हैं।"

इस योजना को सफल बनाने के लिए गांधी जी ने धन की अपील की जिसके फलस्वरूप इंदौर नरेश और सेठ हुकुमचंद ने दक्षिण में हिंदी-प्रचार के लिए दस-दस हजार की थैलियां भेंट की। यह इस संबंध का प्रथम दान था। इसी प्रकार हिंदी-शिक्षकों और प्रचारकों की मांग की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। देशभक्त दाक्षिणात्य युवकों के लिए हिंदी-शिक्षक भेजने के अनुरोध पर गांधी जी ने अपने अठारह वर्षीय पुत्र देवदास को वहां भेज दिया। मई सन् १९१८ ईसवी में मद्रास के गोखले हाल में हिंदी वर्ग खोला गया जिसका उद्घाटन श्रीमती एनी बेसेंट ने 'होम रूल लीग' के कार्यालय में किया और अध्यक्षता सी. पी. रामास्वामी अय्यर ने की। एनी बेसेंट का कथन था कि "जिस दिन अंग्रेजी हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा बन जाएगी उस दिन समझ लेना चाहिए कि हमारी बरबादी शुरू हो गई।" अंग्रेजी समर्थकों को इस विदेशी महिला की उक्ति पर आवश्यक तथा अपेक्षित ध्यान देना चाहिए।

सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन में ही एक प्रस्ताव द्वारा प्रतिवर्ष छह दक्षिण भारतीय युवकों को हिंदी सीखने के लिए प्रयाग भेजने और हिंदी भाषाभाषी छह युवकों को दक्षिणी भाषा सीखने के लिए दक्षिण भारत में भेजने का प्रस्ताव पारित हुआ। तदनुसार प्रयाग में आकर सर्वप्रथम हिंदी सीखने वाले पांच व्यक्तियों में हरिहर शर्मा सपत्नीक, वंदेमातरम सुब्रह्मण्यम् सपत्नीक और शिवराम शर्मा थे। उन दिनों वियोगी हरि और गणेशदीन त्रिपाठी ने हिंदी-शिक्षा देने का दायित्व संभाला था। दक्षिण में हिंदी-प्रचार के लिए 'हिंदी-स्वबोधिनी' पहली पाठ्य पुस्तक थी जिसे तमिल के लिए हरिहर शर्मा ने और तेलुगु के

लिए हृषीकेश शर्मा ने तैयार की थी। इसी प्रकार कन्नड़ और मलयालम के लिए भी पुस्तकें तैयार की गई। इस संदर्भ में प्रताप नारायण वाजपेयी लिखित 'हिंदी का हीर' भी उल्लेखनीय है जो अत्यधिक लोकप्रिय थी। इसमें हिंदी व्याकरण के नियम अंग्रेजी में बतलाये गए थे।

जमना लाल बजाज के सक्रिय सहयोग से सन् १९२३ ईसवी में एक साधारण हिंदी प्रेस की स्थापना हुई। गोदावरी तट पर धवलेश्वर में एक विद्यालय खोला गया जिसके प्राचार्य हृषीकेश शर्मा थे। इसी प्रकार का एक अन्य विद्यालय कावेरी के किनारे ईरोड़ में खोला गया जिसका उद्घाटन पंडित मोतीलाल नेहरू ने किया था। इसकी देखरेख क्रमशः अवधनंदन जी, कृष्ण स्वामी और शिवराम शर्मा को सौंपा गया था। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक भी इस आंदोलन के एक प्रमुख कर्णधार थे। उन्होंने दाक्षिणात्य हिंदी शिक्षार्थियों के लिए 'हिंदी की पहली पुस्तक' नामक पाठ्य पुस्तक लिखी। यह पुस्तक अपनी रोचकता के कारण अत्यंत लोकप्रिय हुई।

इस आंदोलन के प्रमुख संरक्षकों, संचालकों और सहयोगियों में राजर्षि टंडन, काका कालेकर, जमना लाल बजाज, रामास्वामी अय्यर, रंगस्वामी अयंगार, पट्टाभि सीता रामय्या, रामदास पंतलु, के. भाष्यम्, संजीव कामत और रामनरेश त्रिपाठी आदि थे।

हिंदी-प्रचार, वास्तव में राष्ट्रीय स्तर पर सांस्कृतिक आंदोलन का एक अंग है। देश के नव निर्माण में निश्चय ही इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है जिसे फलवती बनाने के लिए अपेक्षाकृत अधिक सद्भाव, सहृदयता और सौमनस्य की आवश्यकता है। इसे राष्ट्रीय दृष्टिकोण द्वारा ही चरितार्थ किया जा सकता है।

●

बंगला भाषाभाषियों की हिंदी-सेवा

हिंदी और बंगला भाषाभाषी क्षेत्र की सीमाएं परस्पर एक दूसरे से मिली हुई हैं। इनकी भाषाएं भिन्न कहलाकर भी एक ही परिवार की हैं। दोनों के सांस्कृतिक स्रोत समान हैं। बंगाली ब्राह्मणों की एक अच्छी संख्या ऐसे लोगों की है जिनके पूर्वज कान्यकुब्ज से आकर बसे थे। मिथिला के साथ बंगाल का संपर्क तथा संबंध युग-युग का है। व्रज के प्रति गौड़ीय संप्रदाय का ऐसा रागात्मक संबंध है कि वह बंगालियों को मथुरा-वृंदावन तक खींच ले आता है। बंगाल के ऊपर कृष्ण के जादू का असर तो है ही, हिंदी प्रदेश में भी देवी-पूजा के रूप में शाक्त धर्म का प्रचलन है। सिद्ध और नाथ संप्रदाय दोनों का प्रभाव दोनों ही क्षेत्रों पर है। इनके तीर्थस्थान भी दोनों क्षेत्रों के निवासियों के लिए एक ही जैसे पवित्र एवं आकर्षक हैं। दोनों के वेशभूषा में भी कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं है। अतएव यह स्वाभाविक है कि दोनों क्षेत्रों के निवासियों की भावधारा तथा विचारधारा में बहुत कुछ समानता रहे। उनके बीच प्रायः सभी मामलों में जाने-अनजाने आदान-प्रदान होते रहना भी अनिवार्य है। फिर उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम, भाषा परस्पर प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकती है ?

फलस्वरूप क्या भाषा और क्या साहित्य सबके निर्माण में परस्पर एक दूसरे का योगदान है। इस एकता को स्थापित करने में एक ओर जहां भौगोलिक कारण सहायक हुए हैं, वहां दूसरी ओर गीता, रामायण, भागवत तथा महाभारत जैसे ग्रंथों का भी महत्वपूर्ण हाथ है। राम और कृष्ण के लीला-चरितों का भी विशिष्ट महत्व है। बुद्ध और महावीर के संदेश भी एकीकरण को सुदृढ़ बनाने में शृंखला का काम किये हैं। संयोगवश इन सबका मूल हिंदी भाषी क्षेत्र में ही स्थित है। किंतु इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमारे देशवासियों ने विभिन्न भाषाभाषी क्षेत्र का होने के नाते इनके प्रति कभी कोई भेदभाव नहीं बरता है। इसी प्रकार हिंदी भाषाभाषियों ने भी शंकराचार्य, मध्वाचार्च, निंबार्काचार्य, वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य से लेकर नामदेव तथा चेतन्य महाप्रभु आदि तक को उच्चासन पर प्रतिष्ठित करने में कभी कोई संकोच नहीं किया है। यहां तक कि द्रविड़ भाषाभाषी आडवार तथा अडियार भक्तों तक के सामने अपना सिर झुकाने में इन्होंने आत्म-गौरव अनुभव

किया है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक तथा व्यावसायिक कारण भी सभी को सूत्रबद्ध करने में सहायक हुए हैं।

भाषा की दृष्टि से शौरसेनी अपभ्रंश में ही हिंदी और बंगला का मूल ढूंढ़ा जा सकता है। दोनों ही भाषाओं पर पाली, प्राकृत तथा संस्कृत की भी छाप स्पष्ट है। डा० सुकुमार सेन के अनुसार, "अष्टम शताब्दी हइते शौरसेनी अपभ्रंश समस्त उत्तरा पथेर साधु भाषा हइया दांड़ाय। एही भाषाय जैनदेर लेखा बई अनेक पाओया गियाछे। बांगला देशेर बौद्धतांत्रिक सहजपंथी एवं शैवयोगी, नामपंथी सिद्धाचार्यरा एही भाषा तांहा देर कड़चा बई एवं छड़ागान लिखिया गिया छेन।" इस प्रकार उद्‌गम के रूप में शौरसेनी अपभ्रंश का स्थान तथा महत्व स्पष्ट है। इस अपभ्रंश के तीन रूप दिखाई देते हैं। पहला अन्य अपभ्रंशों के समान, दूसरा अवहट्ठ के रूप में और तीसरा हिंदी के निकट का अपभ्रंश जिसे 'पुरानी हिंदी' भी कहा गया है। शौरसेनी अपभ्रंश से पूर्वी अपभ्रंश भी प्रभावित है जिससे बंगला अंकुरित हुई है। सिद्धों के दोहा-कोशों पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचुर प्रभाव है, जब कि चर्यापदों पर पूर्वी अपभ्रंश का। नाथपंथी साहित्य में पुरानी हिंदी का रूप सुरक्षित है जिसका प्रभाव बंगला पुस्तक 'गोर्खं संहिता' पर पाया जाता है। नाथपंथियों की संवाद-शैली का प्रभाव बंगला की हेंयाली (पहेली) पर भी पड़ा है। भाषा की इस समानता का यह चामत्कारिक परिणाम हुआ कि दोनों भाषाओं के इतिहासकारों ने 'हम्मीर रासो' को अपनी-अपनी भाषा का ग्रंथ स्वीकार कर लिया है। यही नहीं विद्यापति तक इसी आधार पर दोनों भाषाओं के कवि-रूप में प्रतिष्ठित रहते आये हैं। बंगला साहित्य के इतिहास लेखक श्री दिनेशचंद्र सेन ने बंगला के अनेक प्रथम श्रेणी के कवियों को विद्यापति का ऋणी बतलाया है। ग्रियर्सन ने तो चैतन्य महाप्रभु तक पर विद्यापति का प्रभाव देखा है।

परंपरागत भक्ति-भावना ने मध्यकाल में जब आंदोलन का रूप ग्रहण कर लिया तो उसमें लोक-चेतना और लोक-संस्कार के भाव भर गए। फिर भावाभिव्यक्ति के लिए जनपदीय बोलियों का प्रयोग किया जाने लगा। इनमें से भी उन बोलियों को विशेष महत्व मिल गया जो सांस्कृतिक केंद्रों के आसपास बोली जाती थीं। राम और कृष्ण-भक्ति के संदर्भ में यही स्थिति अवधी तथा ब्रजभाषा की थी जो हिंदी की ही बोलियां अथवा उपभाषाएं हैं। कृष्ण-काव्य में प्रयुक्त ब्रजभाषा का

प्रभाव बंगाल भक्ति-काव्य पर पड़ना स्वाभाविक था। इससे प्रादेशिक विशेषताएं क्षीण न होकर बलवती हुईं। शाक्त-साधना की पृष्ठभूमि में मर्यादावादी राम-भक्ति की अपेक्षा कृष्ण-भक्ति बंगाल के लिए अधिक उर्वर एवं उपयुक्त सिद्ध हुई। चैतन्य महाप्रभु के लिए मथुरा-वृंदावन ही वैकुंठ का स्थानापन्न बना। श्री दिनेश चंद्र सेन के अनुसार, "वैष्णव कालीन बंगला हिंदी से प्रभावित थी। वृंदावन में रहने के कारण इसके कई प्रमुख आचार्य स्थानीय लोगों के संपर्क में आए और लगातार विचार-विनियम करते रहे। फलस्वरूप बंगला में हिंदी शब्दों के प्रयोग का बाहुल्य हो गया। पदकर्ताओं ने विद्यापति की रचनाओं के प्रति आदरभाव होने के कारण उनके अनुकरण में रचना आरंभ कर दी। ब्रजबुलि को भी इसी का परिणाम समझना चाहिए।""भारतीय जनता के बीच अपनी रचनाओं को बोधगम्य बनाने के लिए वैष्णव कवियों ने हिंदी शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से किया।" यह प्रयोग शब्दावलियों तक ही सीमित न रहा, ब्रजबुलि नामक एक काव्य-भाषा ही अस्तित्व में आ गई। बंगला कोशकार श्री ज्ञानेंद्र मोहनदास ने भी बंगला शब्द-शक्ति को बढ़ाने में हिंदी के योगदान को स्वीकार किया है। हिंदी शब्दों के प्रयोग में सोलहवीं शती के गोविंददास कविराज और सत्रहवीं शती के नरहरिदास चक्रवर्ती के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से कविराज जी ने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह ब्रजबुलि न होकर हिंदी अथवा मैथिली के निकटवर्ती है। इसी प्रकार चक्रवर्ती महोदय की पुस्तकें यथा गीत चंद्रोदय, भक्ति रत्नाकर, और गौरचरित चिंतामणि हिंदी से अत्यधिक प्रभावित हैं। भक्ति रत्नाकर वास्तव में साहित्य की ही नहीं, संगीत की भी पुस्तक है जिसकी भाषा हिंदी के समकक्ष है। दौलत काजी और भारतचंद्र राय गुणाकार भी ब्रजबुलि के प्रभावित हैं। ये दोनों कवि वैष्णव कवियों की श्रेणी में नहीं आते। 'ब्रजबुलि' शब्द का प्रथम प्रयोग कदाचित ईश्वरचंद्र गुप्त ने किया था। इस प्रकार यह प्रयोग बहुत पुराना न होकर आधुनिक है। वास्तव में 'ब्रजबुलि' एक मिश्रित भाषा है जिसमें ब्रज-भाषा के साथ-साथ 'कीर्तिलता' की अवहट्ठ भाषा का भी मिश्रण है जिसका प्रभाव नेपाल से लेकर असम प्रदेश तक विस्तृत है। इस भाषा का आधुनिक प्रयोग बंकिमबाबू से लेकर रवींद्रनाथ ठाकुर तक ने किया है।

हिंदी का यह प्रभाब भक्ति-काव्य तक ही सीमित न रहा, आगे

चलकर वह एक अन्य क्षेत्र में भी लक्षित हुआ जो प्रेमाख्यान कहला कर प्रसिद्ध है। निस्संदेह इस प्रेरणा का एक प्रमुख कारण यह भी हुआ कि हिंदी क्षेत्र को रौंदने के बाद ही मुस्लिम शासक बंगाल तक पहुंचे। अतएव उनके लिए यह स्वाभाविक था कि वे इस अवधि में इधर की सामान्य परंपराओं से परिचित हो जाते। फलस्वरूप बंगाल के ढाका, सिलहट, चटगांव से लेकर रोसांग तथा आराकान तक हिंदी के सूफ़ी प्रेमाख्यानों का प्रचार एवं प्रसार हुआ और इसे आतमसात करने में उन्हें कभी हिचक न हुई। डा० सुकुमार सेन ने तो इस तथ्य को स्वीकार किया ही है। डा० एस. एन. घोषाल ने भी लिखा है कि "इन मुस्लिम कवियों को केवल धार्मिक काव्य-रचना के प्रवाह को ही परिवर्तित करके ही शांति नहीं मिली, अपितु फ़ारसी और पुरानी हिंदी के आगत तथा अज्ञात अभिनव आख्यानों द्वारा बंगला साहित्य में उन्होंने एक नए युग का सृजन किया।" सबसे पहले दौलत काज़ी ने थिरि-थु-थमा के राज्यकाल सत्रहवीं शती में 'सती मयना और लोर चंद्राली' की रचना आराकान के राजदरबार में आरंभ की थी जिस पर 'चंदायन' और 'मैनासत' का स्पष्ट प्रभाव है। इसकी रचना रक्षा मंत्री अशरफ़ खां के आग्रह पर हुई थी। परंतु दौलत काज़ी इसे पूरा न कर सके। अंत में आलाओल ने इसे पूरा किया। इसी प्रकार साउद मंदार अथवा खदो मिंतार के राज्यकाल सत्रहवीं शताब्दी में ही कुरेशी मगन ठाकुर के अनुरोध पर सैयद आलाओल ने जायसी कृत पदमावत के आधार पर पदमावती की रचना की। परंतु ये स्वतंत्र अनुवाद है। मुहम्मद खातर की 'मृगावती' पर भी क़ुतबन की 'मृगावती' का प्रभाव बतलाया जाता है। 'लोर चंद्राली' में आलाओल ने 'मनोहर मालती' उपाख्यान का भी उल्लेख किया है। बोध कवि मोहम्मद कबीर भी हिंदी का ऋण स्वीकार करते हैं। 'इस्लामि बांगला साहित्य' में कहा गया है कि "सिलहटेर मुसलमानेरा उत्तर पश्चिमेर हिंदी भाषी मुसलमानेदेर संगे बराबर योग रेखे चले छिलेन।" इसका प्रभाव सिलहट तथा राढ प्रदेश में प्रकट हुआ :

ते काजे फ़ारसी भांगि कैलुम हिंदुआनी।
बुझिबारे बांगाले॰ से कितावेर बानी॥

एक कवि ने प्रयाग के त्रिवेणी के पंडा की कहानी भी बंगला में लिखी है, किंतु वह स्वयं लिखता है कि" उसने किसी हिंदी पुस्तक से सहायता

ली है। भारतचंद्र राय गुणाकर जहां रहा करते थे वह भुरशुट-मंदारन का क्षेत्र पांडुया है। अठारहवीं शती में यह इस्लामी साहित्य का केंद्र बन गया था। इस साहित्य में हिंदी, फ़ारसी और अरबी शब्दों का बाहुल्य रहा करता था। गरीबुल्ला की 'इसुफ़ जुलेखा' और आमीर हामजा की 'जंगनामा' इसके उदाहरण स्वरूप हैं। सन् १८५१ ईसवी में गुलनोवम् का प्रकाशन बंगला में हुआ। यह वास्तव में फ़ारसी रचना 'गुलसनोवर' के नेमीचंद्र कृत हिंदी रूपांतर का अनुवाद है। इसके बाद भी लैला-मजनूं आदि कई कहानियां लिखी गई जिन पर हिंदी का स्पष्ट प्रभाव है। लैला-मजनूं का प्रथम खंड नासेर अली का लिखा है जो भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। 'देला रामेर कहानीं' जैसी गीतकथाएं भी हैं जिन पर हिंदी का प्रभाव पड़ा। एबादतुल्ला की 'गुलबकावली' और बालेश्वर द्वारा 'मृगावती' के आधार पर लिखित 'कुरंगभानु' ऐसी रचनाएं हैं जिनमें हिंदी मिश्रित भाषा का प्रयोग हुआ है। इस संदर्भ में अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के हम निधू बाबू (रामनिधि गुप्त) को नहीं भुला सकते जिन्होंने टप्पा की शैली में प्रेमगीतों का प्रणयन किया है। इसकी शिक्षा-दीक्षा उन्हें छपरा से मिली थी। यही नहीं बंगला रामायणों पर गोस्वामी तुलसीदास का प्रभाव देखा जा सकता है। इसे हम 'कृतिवासी रामायण' से लेकर आधुनिक 'ढोंडाई चरित मानस' तक पर पा सकते हैं।

बंगला भाषाभाषियों द्वारा हिंदी से प्रभाव तथा प्रेरणा ग्रहण करने की यह परंपरा आधुनिक काल तक चली आई। डा. सुधाकर चटर्जी के अनुसार "ब्रिटिश शासन में अनेक प्रभावशाली बंगाली हिंदी के समर्थन में अग्रसर हुए हैं। हिंदी की सहायता से वे बंगला साहित्य को समृद्ध बनाने में यत्नशील थे।" राजा राममोहन राय तथा ईश्वरचंद्र विद्यासागर से लेकर रवींद्रनाथ और क्षितिमोहन सेन तक हिंदी के समर्थक तथा सहायक थे। राजा साहब तो हिंदी में लिखा भी करते थे। शांतिनिकेतन का 'हिंदी भवन' गुरुदेव के हिंदी अनुराग का प्रतीक है। आचार्य सेन तो हिंदी में लिखा भी करते थे। कई बंगाली पत्रकार हिंदी पत्र-पत्रिकाओं के संचालक अथवा संपादक भी रहते आए हैं और राजनीतिक प्रपंच से विरत कितने ही बंगाली कवि और लेखक हिंदी-सेवा करते आ रहे हैं।

राष्ट्रभाषा हिंदी की पूर्वपीठिका

हिंदी जो आज राजनीतिक क्षेत्र में विवाद का विषय बन गई है यह सदा से ऐसी ही नहीं रही है। इसकी प्रगति और लोकप्रियता जन-आंदोलन के साथ-साथ जुड़ी हुई है। यह जन-मानस की भावाभिव्यक्ति का सहज एवं सक्षम माध्यम है। इसके माध्यम से समस्त भारतीय राष्ट्र की इच्छाओं, आकांक्षाओं और अभिलाषाओं को वाणी मिली है। इसके द्वारा हमारी राष्ट्रीय चेतना मुखर हुई हैं। यह जन-भावना से अनुप्राणित है और इसकी जड़ें जन-जीवन की गहराई तक पहुंच चुकी हैं। इसीलिए यह राष्ट्रभाषा है, मात्र संपर्क-व्यवहार की भाषा नहीं। यह बोलचाल की भाषा होने के साथ-ही-साथ ज्ञान-विज्ञान का वाहक भी है। यह न केवल सांसारिक भावोद्गारों को प्रकट करने में सहायक बनी है अपितु महात्माओं की अनुभूतियों को सफल अभिव्यक्ति देने में भी सक्षम एवं समर्थ सिद्ध हुई है।

आठवीं शताब्दी के बाद केंद्रीय सत्ता के विघटन होने पर छोटे-मोटे राज्यों का गठन हुआ और बोलियों अथवा लोकभाषाओं का महत्व बढ़ने लगा। वे बोलचाल की भाषा से विकसित होकर जन-आंदोलन तथा साहित्य-रचना का माध्यम बनने लगीं। बारहवीं शताब्दी तक में स्थानीय बोलियों तथा भाषाओं को प्रमुखता मिली और धीरे-धीरे हिंदी राष्ट्रभाषा के रूप में विकसित हुई। यह अन्य भाषाओं की भांति किसी जाति, वर्ग अथवा क्षेत्र-विशेष की भाषा न होकर न केवल मध्यदेश की विशिष्ट भाषा बनी अपितु संपूर्ण राष्ट्र के विभिन्न अंचलों से जोड़नेवाली एक कड़ी भी बन गई।

उक्त प्रक्रिया को पूरा करने में धार्मिक आंदोलनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस अवधि में जहां सिद्धों-नाथों की रचनाएं रची गईं, वहां दाक्षिणात्य आचार्यों के प्रभाव में उत्तरी भारत में वैष्णव भक्ति-आंदोलन का विस्तार हुआ। ऐसे वैष्णव भक्तों में कदाचित सर्वप्रथम रामानंद ही ऐसे हुए जिनका ध्यान जन-भाषा के प्रयोग की ओर आकृष्ट हुआ। महाराष्ट्र के संतों ने भी इस प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया। इस्लाम के अनुयायी सूफ़ी कवियों ने हिंदी को अपने प्रचार का माध्यम स्वीकार किया और दक्खिनी हिंदी के सूफ़ी कवियों तक ने इसे सहर्ष अपनाया।

विदेशी शासकों तथा शाहंशाहों ने न केवल हिंदी के मूल्य एवं महत्व को जाना-समझा और पहचाना अपितु उसका सहर्ष व्यवहार भी किया। महमूद ग़ज़नवी के सिक्कों और राज-मुद्राओं पर हिंदी भाषा तथा नागरी लिपि का प्रयोग पाया जाता है। पठान बादशाहों में से शम्शुद्दीन इल्तुमिश, रज़िया बेग़म, अलाउद्दीन आदि ने इस परंपरा को अग्रसर किया। बारि हामिदपुर वाले गोमठ में अल्लाह की बंदगी नागरी लिपि में अंकित है। सोलहवीं शताब्दी के आदिलशाही मसज़िद पर नागरी लिपि में संस्कृत भाषा के शिलालेख पाये गए हैं। अकबरी सिक्कों पर 'राम-सीय' का प्रयोग तक पाया जाता है। गार्साँ द तासी के अनुसार मुस्लिम प्रशासन में फ़ारसी नवीस के साथ-साथ हिंदी नवीसों की नियुक्ति भी की जाती थी। अठारहवीं शताब्दी में एल्लोर के बाकर आग़ा ने अपने काव्य-संग्रह का नामकरण 'दीवाने हिंदी' किया था। इस प्रकार के अन्य कई उदाहरण उपलब्ध हैं।

साहित्य-रचना के क्षेत्र में भी भिन्न स्थिति नहीं रही है। वहां पर ऐसे उदाहरणें का बाहुल्य है। प्रेम, भक्ति, श्रृंगार और नीति-विषयक रचनाओं के रचयिताओं में अद्दहमाण, अमीर खुसरो, मुल्ला दाऊद, क़ुतबन, मंझन, जायसी, वली, वजही, ग़वासी, कबीर, दादू, रज्जब, रहीम और रसखान जैसे कवि इसी परंपरा के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं जिन पर हम उचित ही गर्व कर सकते हैं। मराठी संतों ने जिस प्रकार हिंदी में लिखने की परंपरा चलायी, उसी प्रकार सिक्ख गुरुओं ने भी हिंदी में रचना करने की टेक निभायी।

ईसाई धर्म-प्रचारकों को यह समझते देर न लगी कि जन-संपर्क के लिए हिंदी ही सर्वाधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण भाषा है। प्रचार की दृष्टि से उन्होंने पद्य-शैली से अधिक हिंदी गद्य-शैली को ही प्रश्रय देना उपयोगी समझा और तदनुसार मेलों, उत्सवों और त्याहारों के अवसरों पर उसका खुल कर भरपूर उपयोग किया। उनका लक्ष्य, यद्यपि ईसाई धर्म का प्रचार करना था तथापि इसी बहाने हिंदी का हित भी होता चला गया। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने न केवल हिंदी को प्रचार का साधन चुना अपितु उसके सुधार की ओर भी ध्यान दिया। ऐसा करते समय उन्होंने अपनी सुविधा का बराबर ध्यान रखा जिससे उनके द्वारा प्रयुक्त हिंदी भाषा में सहजता से अधिक बनावटीपन का प्रभाव आ गया। कभी-कभी वहां सुसंबद्ध शब्द-योजना, प्रवाहमय वाक्य-

रचना और शैली-सौंदर्य का अभाव खटकने लग जाता है। फिर भी पंडिताऊ शैली में लिखी ब्रज अथवा संस्कृत गर्भित कई पुस्तकें अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय हुई। इनका साहित्यिक मूल्य भले ही न हो, किंतु हिंदी-प्रचार की दृष्टि से ये सहायक सिद्ध हुई इसलिए इनका महत्व अवश्य है।

ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन-काल में अंग्रेजों ने देशी भाषाओं के महत्व एवं उपयोगिता को स्वीकार कर लिया था। प्रशासन की दृष्टि से हिंदू और मुस्लिम प्रजा के क़ायदे-क़ानून को जानना उनके लिए आवश्यक था। परंतु इसमें कठिनाई यह थी कि दोनों की न केवल दो भाषाएं संस्कृत और अरबी थीं अपितु दो लिपियां नागरी तथा फ़ारसी भी थीं। इन्हें जानने के लिए उनका परिचय पाना आवश्यक था। फिर अपनी बात को जन-सुलभ बनाने के लिए देशी भाषाओं का ज्ञान भी अपेक्षित था। कंपनी के शासकों को इस दोहरे दायित्व को निभाना था। इस प्रकार एक ओर जहां राज्य-संचालन के लिए संस्कृत-अरबी और नागरी-फ़ारसी के जानकार अंग्रेज अफसर तैयार करने थे, वहां दूसरी ओर कार्यालय को संभालने के लिए अंग्रेजी सिखा कर सरकार-परस्त भारतीय क्लर्क बनाना था। तत्कालीन कंपनी सरकार हिंदी को नागरी भाषा कहने लगी थी, "हरी एक जिले के कलीक्टर साहेब का लाज़िम है के इस आईन के पावने पर एक-एक केता इसतहारनामा नीचे के सरह से फ़ारसी वो नागरी भाषा के अक्षर में लिखाए के अपने मोहर वो दस्तखत से अपने जिला मालीकान जमीन वो ईज़ारेदार जो हजुर में मालगुजारी करता उन सभों के कचहरि में वो अमानि महाल के देसी तहसीलदार लोग के कचहरि में भी लटकावहिं।" कंपनी द्वारा व्यवहृत भाषा पर स्पष्ट ही अरबी-फ़ारसी का अधिक प्रभाव था जिसका विरोध पश्चिमोत्तर प्रदेश के एक सरकारी आदेश ५ जनवरी, सन् १८५४ ईसवी द्वारा किया गया था, किंतु उसका पालन न हो सका। इसका बहुत बड़ा कारण स्वयं अंग्रेज शासकों की अस्थिर नीति थी जिसने हिंदू-उर्दू विवाद को जन्म तथा प्रश्रय दिया।

वास्तव में अंग्रेज शासकों में से कइयों ने उक्त वाद-विवाद से लाभ उठा कर अंग्रेजी भाषा और रोमन लिपि की जड़ जमानी चाही थी। ऐसे लोगों में डफ़ और मेकाले के नाम प्रमुख है। इसके विपरीत जेम्स, ग्राउस और विल्सन जैसे शासक, भारतीय भारतीय भाषाओं तथा

नागरी लिपि के प्रयोग के पक्ष में थे। परंतु हिंदी-उर्दू के व्यवहार के प्रश्न को लेकर इनमें परस्पर मतैक्य न था। बीम्स जहां उर्दू का पक्ष ले रहे थे, वहां ग्राउस हिंदी का समर्थन कर रहे थे। अपने-अपने पक्ष की पुष्टि में उभय पक्षों द्वारा लेख भी लिखे जाने लगे। यह क्रम सन् १८६५ से १६६८ ईसवी तक चलता रहा। कलकत्ता रिव्यू, इंडियन एंटीक्विटी और रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल इसके माध्यम बने। इसी बीच स्प्रेजन के ऐसे लेख 'आग्सबर्ग गज़ट' में प्रकाशित हुए जिससे लिपि और भाषा का प्रश्न एक और अभिन्न लगने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि लिपि संबंधी प्रश्न ने भी विवाद का रूप ग्रहण कर लिया। फिर भी केलाग, ग्रियर्सन, पिटमैन और विलियम जैसे विद्वानों ने हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि का ही पक्ष लिया एव इन्हें बराबर अपना समर्थन देते रहे।

इस भाषा-लिपि विवाद का एक उल्लेखनीय दुष्परिणाम यह हुआ कि प्रवुद्ध भारतीय नेता तक इस प्रश्न पर दो वर्गों में विभक्त हो गए। सर सैयद अहमद जैसे देशभक्त नेता इस प्रवाह में पड़ गए। सन् १८६४ ईसवी में इन्होंने गाज़ीपुर में 'ट्रांसलेशन सोसाइटी' की स्थापना की जो आगे चलकर अलीगढ़ में 'साइंटिफिक सोसाइटी' के नाम से विख्यात हुई। इन्हें ब्रिटिश शासकों की प्रेरणा और प्रश्रय प्राप्त था। अंग्रेजों की शिक्षा-नीति ने भी मतभेद को बल और बढ़ावा प्रदान किया।

सन् १८६८ ईसवी में ही राजा शिव प्रसाद 'सितारेहिंद' ने 'कोर्ट कैरेक्टर इन अपर प्राविसेंज आफ इंडिया' शीर्षक एक 'मेमोरेंडम' छपवाया जिसमें उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि का विरोध करते हुए हिंदी भाषा और नागरी लिपि का पक्ष ग्रहण किया गया था। वे शिक्षा के क्षेत्र में फ़ारसी-भाषा ही नहीं, फ़ारसी-लिपि के भी विरोधी थे। इससे सर सैयद तथा उनके अनुयायी और भी भड़क उठे और भाषा-लिपि विवाद ने सांप्रदायिक रूप धारण कर लिया। सन् १८७३ ईसवी में ही पश्चिमोत्तर प्रदेश के गवर्नर म्योर को एक मेमोरियल दिया गया जिसका उद्देश्य कचहरियों में हिंदी-भाषा और नागरी-लिपि का प्रयोग कराना था। धीरे-धीरे लोकमत प्रवल होता गया और सन् १८७४ ईसवी में डाइरेक्टर आफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन द्वारा हिंदी को प्रबल समर्थन प्राप्त होने का संकेत मिला। फलस्वरूप १३-जून १८७६ ईसवी को सरकार ने कार्यालयों में हिंदी प्रयोग के लिए एक परिपत्र प्रसारित किया।

इसका उद्देश्य अरबी-फ़ारसी बहुल भाषा के स्थान पर बोधगम्य भाषा को प्रचलित करना था। भाषा-लिपि विवाद को सरलीकरण द्वारा हल करने का यह एक प्रयास था जिसमें भाषा-लिपि हटाने का कोई स्पष्ट उल्लेख न था। फिर १६ जुलाई सन् १८७७ ईसवी के आदेश द्वारा दस रुपए से अधिक की नौकरी पाने के लिए दीगर जबान उर्दू के साथ मिडिल स्कूल उत्तीर्ण होने की शर्त लगा दी गई। इस प्रकार सरलीकरण के नाम पर उर्दू को ही परोक्ष रूप में प्रश्रय दिया जाने लगा। आगे चल कर राजा साहब किसी कारण सरकारी प्रभाव में आ गए और सरकारी नीति के समर्थक बन गए।

इसके फलस्वरूप सन् १८७२ ईसवी में हिंदी-आंदोलन जोर पकड़ गया। उन दिनों की पत्र पत्रिकाओं में हिंदी के समर्थन में लेखों की भरमार रहने लगी और अधिकारियों को मेमोरेंडम दिये जाने लगे। सन् १८८२ ईसवी में ही नियुक्त शिक्षा-आयोग का हिंदी के ही पक्ष और समर्थन का बहुमत प्राप्त था। परंतु इस आयोग के एक माननीय सदस्य सर सैयद अहमद खां भी थे जिस कारण हिंदी-उर्दू के प्रश्न पर आयोग ने मौन धारण करना ही उचित समझा।

'सितारेहिंद' जैसे हिंदी समर्थकों की ढुलमुल नीति का एक कुफल यह हुआ कि उर्दू फ़ारसी के प्रभाव में आकर लोग 'प्रणाम' के स्थान पर 'सलाम' कहने लगे और 'श्रीगणेशायनमः' के बदले 'बिस्मिला एर्रहमाने रहीम' लिखने लगे। इससे क्षुब्ध होकर लोकमत और अधिक जागृत हुआ जिसका नेतृत्व राजा लक्ष्मण सिंह जैसे विद्वानों ने किया। उन्होंने इस संबंध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा, "हिंदी में संस्कृत पद बहुत आते हैं और उर्दू में अरबी-फ़ारसी के। परतु कुछ आवश्यक नहीं है अरबी-फ़ारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द भरे हों।" उन्होंने हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए आगरे से 'प्रजा हितैषी' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा प्रकाशित 'कवि वचन सुधा' (सन् १८६८ ईसवी) की भाषा 'हरिश्चंद्री हिंदी' कहलाकर प्रसिद्ध हुई और 'हरिश्चंद्र मेगज़ीन' (सन् १८७३ ईसवी) ने हिंदी आंदोलन को एक नया मोड़ दिया। 'हिंदी नई चाल में ढली' की घोषणा इसी पत्र द्वारा हुई थी। इनसे प्रेरणा प्राप्त कर हिंदी पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़ आ गई।

भारतेंदु ने दोनों राजाओं के प्रतिद्वंद्वी एवं प्रतिस्पर्द्धी राजमार्गों के बीच से जन-पथ का निर्माण किया। इस संदर्भ में काशीनाथ खत्री का नाम उलेखनीय है।

प्रताप नारायण मिश्र ने सन् १८८३ ईसवी में 'ब्राह्मण' पत्रिका का प्रकाशन किया और उसके द्वारा 'हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान' के नए नारे का प्रचार-प्रसार आरंभ किया। सरकारी कार्यालयों में नागरी प्रचार-प्रसार को प्रश्रय देने के लिए १५ अप्रेल के अंक में निम्नलिखित विज्ञप्ति प्रकाशित की गई—

"शीघ्र ! शीघ्र ! ! शीघ्र ! ! !

नागरी लेखकों की जिनके अक्षर उत्तम हों जिला बलिया में अति आवश्यकता है। योग्यता के अनुसार वेतन दिया जाएगा। जिन महाशयों को स्वीकार होवे श्रीयुत मुंशी चतुर्भुज सहाय साहब डिप्टी कलेक्टर, मोहकमा बंदोबस्त, जिला बलिया के पास नागरी लिपि में अपनी अर्जी भेजे और बनारस में जिन लोगों को कुछ इस विषय में पूछना हो श्रीयुत भारतेंदु बाबू हरिश्चंद से पूछ लें।" यह हिंदी-प्रेम का एक प्रतीक है।

भारतीय इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी पुनरुत्थान और जन-जागरण का युग था। इसमें देशभक्ति की भावधारा दोलायमान थी जिससे समाज-सुधार की भावना जागृत हुई। इसी भावना ने बीसवीं शताब्दी में राजनीतिक चेतना से युक्त होकर राष्ट्रीयता का रूप ग्रहण कर लिया। महर्षि दयानंद, राजा राम मोहन राय, और लोकमान्य तिलक जैसे मनीषी इसी संधि-कालीन चेतना से अनुप्राणित हैं जिन्होंने राष्ट्रभाषा हिंदी को प्रश्रय तथा प्रोत्साहन दिया।

राष्ट्रभाषा हिंदी और भारतीय नेता

राष्ट्रभाषा हिंदी राष्ट्रीय चेतना की वाणी है। इसका उदय और विकास राष्ट्रीय जागरण के समानांतर हुआ है। इसके पूर्व हिंदी भाषा की सीमा तथा स्वरूप जो और जैसा भी रहा हो, इसमें संदेह नहीं कि राष्ट्रभाषा हिंदी अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की तुलना में संपूर्ण भारत का प्रतिनिधित्व करती है जिसे सभी क्षेत्रों, धर्मों, वर्गों, जातियों एवं श्रेणियों के लोगो ने अपना-अपना अर्घ्य-दान किया है। विक्रेता हो या व्यापारी, विचारक हो या धर्म-प्रचारक, समाज-सुधारक हो अथवा राजनीति-विधायक सभी को अपने-अपने मत-विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए किसी-न-किसी भाषा का सहारा लेना पड़ता है। ऐसी भाषा का चुनाव करते समय उसे उसके सरल, सुगम और सुबोध होने का ध्यान रखना पड़ता है जिससे वह जन-सुलभ हो सके।

भारतीय इतिहास की दीर्घकालीन परंपरा में जन-जागरण के कई अवसर आये और अपना चरण-चिह्न छोड़कर चले गए। परंतु उन्नीसवीं शताब्दी का जन-जागरण अपने पूर्ववर्ती जागरणों से प्रकृत्या भिन्न तथा पृथक था। यह केवल दो जातियों के प्रतिद्वंद्वी विचारों को द्वंद्व अथवा दो पृथक संस्कारों के संघर्ष की प्रतिक्रिया मात्र न थी अपितु इनके साथ-ही-साथ आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों का भिन्न परिणाम था जो कृषि प्रधान जीवन-प्रणाली से आकर सहसा टकरा गया था। वैज्ञानिक उपलब्धियों ने अंतर-प्रांतीय साहचर्य को प्रश्रय तथा प्रोत्साहन दिया। इसने न केवल जन मानस को आंदोलित किया अपितु उसकी समस्त चेतना को नए धरातल पर ला खड़ा किया। नए विचारों ने पुरानी धारणाओं को झकझोर कर हिला दिया और परिवर्तन ने परंपरा को ध्वस्त करना आरंभ कर दिया। यहां तक कि भाषा की समस्या भी इससे अछूती न रह सकी।

मध्यकालीन धार्मिक आंदोलन भी जन-जागरण का ही एक रूप था जब कि जन भाषाओं को प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाया गया। सिद्ध, नाथ, संत और सूफ़ी जैसे साहित्य इसके प्रमाण हैं। परवर्ती भक्ति साहित्य ने भी इसी परंपरा को आगे बढ़ाया है। दक्खिनी हिंदी का

साहित्य भी इसी श्रृंखला की एक सुदृढ़ कड़ी है। आधुनिक शिक्षा-विस्तार के साथ-साथ हिंदी मध्यदेश की भाषा बनी और राष्ट्रीय चेतना के प्रसार के साथ-साथ उसका राष्ट्रीय स्वरूप राष्ट्रभाषा के रूप में विकसित हुआ।

आधुनिक धार्मिक आंदोलनों का दृष्टिकोण दार्शनिक से अधिक सामाजिक था और यह निश्चय ही पाश्चात्य प्रभाव का परिणाम था। बंगाल का ब्रह्म-समाज और बंबई का प्रार्थना-समाज एक ही प्रवृत्ति के दो रूप थे। आर्य-समाज आदर्शों में परंपरावादी अधिक था और थियासोफिकल सोसाइटी अपने लक्ष्य में प्रगतिशील। देव-समाज वास्तव में ब्रह्म-समाज का ही विकसित रूप था। इसके प्रवर्तक सत्यानंद अग्निहोत्री लाहौर में ब्रह्म-समाज के कर्मठ अनुयायी रह चुके थे। इन्होंने 'देव-शास्त्र' में अपने मत का प्रतिपादन किया और ब्रह्म-समाज से अपने मतभेदों पर प्रकाश डाला। इन आंदोलनों के प्रचार-प्रसार में हिंदी का उल्लेखनीय योगदान रहा। सनातन धर्मियों ने भी हिंदी के माध्यम से अपने ढंग का प्रचार किया जिनमें महामना मालवीय, श्रद्धानंद, फिल्लौरी, अबिकादत्त व्यास, गणेश दत्त गोस्वामी आदि प्रमुख थे।

जिस धर्म-वुद्धि ने धार्मिक आंदोलनों का सूत्रपात किया उसी ने सामाजिक परिवेश में आकर समाज-सुधार का रूप ग्रहण कर लिया और राजनीतिक्र चेतना के साथ-साथ राजनीतिक हलचलों एवं गति-विधियों का संचालन भी किया। सन् सत्तावन के विद्रोह के अंतर्मुखी हो जाने के वाद विदेशी सत्ता के पैर जमने लगे और अंग्रेज अपनी शासन-व्यवस्था को ठीक करने लग गए। दमन-चक्र द्वारा विद्रोह कुचल कर शांत किया जा सकता था, किंतु एक बार स्वातंत्र्य भावना के जागृत हो जाने पर स्वाभिमान को सव समय के लिए दवाया नहीं जा सकता था। फलस्वरूप व्यक्तिगत भावना ने सामूहिक चेतना का रूप ग्रहण कर लिया और संगठनों पर बल दिया जाने लगा।

कांग्रेस पूर्व स्थापित ब्रिटिश इंडियन एसोशिएशन (सन् १९५१ ईसवी), बंगाल नेशनल लीग (सन् १८७० ईसवी), बंबई एसोशिएशन (सन् १८८० ईसवी) और मद्रास नेटिव एसोशिएशन (सन् १८८१ ईसवी) ऐसी ही संस्थाएं थीं जिनके माध्यम से भारतीय भावना का स्फुरण हो रहा था। परंतु इन संस्थाओं में समान भावधारा प्रवाहित होने के रहते परस्पर कोई प्रकट लगाव अथवा संबंध न था। यह एक बहुत बड़ा अभाव था जिसकी पूर्ति केंद्रीय संस्था के रूप में कांग्रेस

(सन् १८८५ ईसवी) ने की। सन् १९२० ईसवी में कांग्रेस में गांधी जी का प्रवेश एक ऐतिहासिक महत्व की घटना सिद्ध हुई जिसने भारतीय राजनीति को नई दिशा और मोड़ दी। इसके पूर्व या तो वैधानिक लड़ाई लड़ी जा रही थी या विप्लव की तैयारी हो रही थी।

गांधी जी के लिए हिंदी-प्रचार राष्ट्रीय आंदोलन एवं कार्यक्रम का एक अंग था। उनके लिए हिंदी मात्र एक भाषा नहीं, राष्ट्रभाषा थी। अहिंदी क्षेत्रों में प्रचार के लिए उन्होंने सन् १९१८ ईसवी में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की स्थापना की थी। वे दो बार (सन् १९१८ और १९३५ ईसवी में) हिंदी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों के सभापति भी हुए थे। उन्होंने सन् १९१८ ईसवी वाले अपने सभापति-भाषण में कहा था, "हिंदी साहित्य की दृष्टि से मेरी योग्यता इस स्थान के लिए कुछ भी नहीं है, यह मैं खूब जानता हूं। मेरा हिंदी भाषा का असीम प्रेम ही मुझे यह स्थान दिलाने का कारण हो सकता है। मैं उम्मीद करता हूं कि प्रेम की परीक्षा में हमेशा उत्तीर्ण होऊंगा।" गांधी जी का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली सिद्ध हुआ कि उनकी व्यक्तिगत मान्यता राष्ट्रीय कार्यक्रम का अंग बन गई।

सांप्रदायिक गंध से बचाने के लिए गांधी जी राष्ट्रभाषा के लिए हिंदी की अपेक्षा हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग करने लगे थे। इस विषय में राजेंद्र बाबू के विचार ध्यातव्य हैं, "कांग्रेस के विधान में जहां भाषा का जिक्र है, वहां न 'हिंदी' शब्द का व्यवहार किया गया है न 'उर्दू' शब्द का बल्कि वहां 'हिंदुस्तानी' शब्द का ही इस्तेमाल हुआ है। जब गांधी जी ने दक्षिण भारत में राष्ट्रभाषा का प्रचार सन् १९१८ ईसवी में आरंभ किया था तब हिंदी साहित्य सम्मेलन के तत्वाधान में ही आरंभ कराया था। उसी समय वह इंदौर में साहित्य सम्मेलन के सभापति हुए थे। कांग्रेस के विधान में 'हिंदुस्तानी' शब्द का व्यवहार महात्मा जी और पुरुषोत्तम दास टंडन ने ही किया था। दक्षिण भारत में जिस सभा के द्वारा राष्ट्रभाषा प्रचार का काम-काज भी किया जा रहा है उसका नाम दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा है। इससे स्पष्ट है कि गांधी जी नें जब से इस काम को हाथ में लिया है, उन्होंने हिंदी और उर्दू को दो भिन्न-भिन्न भाषा नहीं माना है। यद्यपि दोनों की शब्दावली में अंतर है और वह अंतर दिन-दिन बढ़ता जा रहा है तथापि दोनों का व्याकरण प्रायः एक हो है और वह व्याकरण दूसरी

किसी भाषा के व्याकरण से पूरा-पूरा नहीं मिलता। भाषा-तत्वविदों का कहना है कि विभिन्नता शब्दावली से उतनी नहीं होती, जितनी उसके वाक्यों की गढ़न और व्याकरण के नियमों के कारण होती है। इसलिए यह मानना अनुचित और भाषा विज्ञान के नियमों के प्रतिकूल नहीं है कि हिंदी और उर्दू एक ही भाषा का नाम है अथवा एक ही भाषा की दो शैलियां हैं, दो विभिन्न भाषाएं नहीं।" इसके बाद इस विषय में कुछ और कहने को शेष नहीं रह जाता।

महामना मालवीय का हिंदी प्रेम सर्वविदित है। इस विषय में उनके विचार कितने स्थिर तथा सुदृढ़ थे इसका परिचय निम्नलिखित उद्धरण से मिल जाता है जिसे उन्होंने राष्ट्रभाषा पर बोलते हुए कहा था, "वह कौन-सी भाषा है, जो वृंदावन, बद्रीनारायण, द्वारका, जगन्नाथ पुरी इत्यादि चारों धामों तक एक समान धार्मिक यात्रियों को सहायता देती है? वह एक हिंदी भाषा है। लिंग्वा फ्रैंका, लिंग्वा फ्रैंका ही क्यों लिंग्वा इंडिका है। गुरु नानक जी लंका, तिब्बत, मक्का, और मदीना, चीन इत्यादि सब देशों में गए। वहां उन्होंने किस भाषा में उपदेश दिया था? यही हिंदी भाषा थी। इससे जान पड़ता है कि उस समय भी हिंदी भाषा राष्ट्रभाषा थी और उसका सार्वजनिक प्रचार था।"

मालवीय जी के प्रयास से सन् १९०० ईसवी में सरकारी काम-काज में हिंदी का प्रयोग करने की सुविधा गवर्नर महोदय ने प्रदान की थी। इस विषय में उन्होंने लिखा था, "हमने कहा था कि कचहरियों की भाषा हिंदी भी कर दी जाय, राजा (शासक) ने हमारे प्रदेशों में कचहरियों की भाषा हिंदी भी कर दी। इन दिनों इस देश में कचहरियों की जो भाषा है वह हिंदी है।" उनकी मार्मिक एवं हृदयग्राही भाषण-शैली से गांधी जी तक प्रभावित थे। उनके अनुसार, "पंडित मदन-मोहन मालवीय जी को अपने ख्यालात को हिंदी में बताने में कुछ कठिनाई नहीं मालूम पड़ती है। उनका अंग्रेजी का व्याख्यान चांदी-सा चमकता हुआ कहा जाता है, लेकिन जैसे मानसरोवर में से निकली गंगा की धारा सूर्य की किरणों से सुवर्ण की नाईं झलकती है, वैसे ही श्रीमान पंडित जी का हिंदी व्याख्यान-प्रवाह भी झलकता है।" वास्तव में मालवीय जी महाराज हिंदी के समर्थ संरक्षक थे।

राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन हिंदी के निष्ठावान् सजग प्रहरी एवं पोषक थे। उनका नाम हिंदी का पर्याय बन गया था। उन्होंने एक

प्रकार से हिंदी के प्रचार-प्रसार का व्रत एवं संकल्प ले लिया था और हिंदी साहित्य सम्मेलन को उन्होंने इसका मंच तथा माध्यम बनाया था। वे हिंदी के प्रति इतने भाव-प्रवण थे कि गांधी जी और जवाहरलालजी तक के संबंधों को खतरे में डाल सकते थे। अपनी इस आस्था में वे अडिग थे। किसी के सामने झुक कर समझौता करने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

सन् १९४५ ईसवी में हिंदी-हिंदुस्तानी के प्रश्न पर गांधी से उनका तीव्र एवं गहरा मतभेद हो गया और महात्मा जी ने यह कहकर त्याग-पत्र दे दिया कि "जब मैं सम्मेलन की भाषा और नागरी लिपि को पूरा राष्ट्रीय स्थान नहीं देता हूं तब मुझे सम्मेलन से हट जाना चाहिए, ऐसी दलील मुझे योग्य लगती है।" इसके उत्तर में राजर्षि टंडन ने गांधी जी को लिखा, "यदि आप मेरे दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं और आपका आत्मा यही कहता है कि सम्मेलन से अलग हो जाऊं, तो आपके अलग होने की बात पर बहुत खेद होते भी नतमस्तक हो आपके निर्णय को स्वीकार करूंगा।" संविधान में हिंदी को उचित स्थान दिलाने में टंडन जी को भगीरथ यत्न करना पड़ा था। इसकी सफलता का बहुत बड़ा श्रेय उनके निस्वार्थ निष्ठा-भाव को है। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व का लोहा उनके विरोधी तक मानते थे।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद हिंदी के कितने हिमायती थे यह उनके द्वारा प्रकट किये गए उद्‌गारों से पता चलता है। उन्होंने एक एक स्थल पर लिखा है, "जब मैं पटना युनिवर्सिटो की सिनेट का सदस्य था और हिंदी को शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रस्ताव उपस्थित किया गया था तो मि० फार्बस ने मुझसे पूछा था कि यदि आपको अधिकार दे दिया जाय, तो क्या आप इस प्रस्ताव को कार्य में परिणत कर सकते हैं? मैंने उत्तर दिया था कि मेरे दिल में कुछ भी शक नहीं है, मैं कल ही उसके अनुसार कार्य करने लगूंगा।" यह उनकी हिंदी-निष्ठा का प्रमाण है।

राजेन्द्र बाबू के अनुसार, "हिंदी भी यदि जोती-जागती भाषा होना चाहती है तो उसे अपने शब्द-भंडार को बढ़ाना पड़ेगा। बहिष्कार की नीति तो वह कदापि स्वीकार नहीं कर सकती और न विदेशी शब्दों को बाहर रख कर वह अपनी-उन्नति कर सकती है। हिंदी संस्कृत नहीं है, हिन्दुस्तान में हिंदू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सिक्ख बसते हैं और

तो भी वह हिंदुस्तान है। इसी प्रकार हिंदी में सभी भाषाओं से उत्तम शब्द हम लेंगे तो भी वह हिंदी ही रहेगी।" उनकी यह उक्ति आज भी समीचीन है।

भारतरत्न राजेन्द्र बाबू ने हिंदी की उन्नति और उत्थान की योजना प्रस्तुत करते हुए सन् १९१३ ईसवी में सम्मेलन के विशेष कोकोनाडा अधिवेशन में कहा, "हिंदी की उन्नति और प्रचार कई प्रकार के हो सकते हैं। जहां के रहनेवाले समझ और बोल सकते हैं वहां के लोगों में इसके साहित्य के प्रति प्रेम और श्रद्धा उत्पन्न करने की आवश्यता है। ऐसे स्थानों में उत्तमोत्तम ग्रथों का सग्रह करके पुस्तकालय और वाचनालय स्थापित किये जाएं। हिंदी साहित्य के प्रेमियों को विविध रूप से पुरस्कृत किया जाए। अच्छे-अच्छे ग्रंथों के लेखकों को तथा कवियों को प्रोत्साहन दिया जाए। उत्तमोत्तम ग्रंथों को छापकर सस्ते मूल्य पर बेचने का प्रबंध हो। ऐसी मडलियां और संस्थाएं स्थापित की जाएं, जो सचाई और सहृदयता के साथ तथा निष्पक्ष भाव से नए-नए ग्रंथों की समालोचना किया करें। पुस्तक-लेखकों को उनकी पुस्तकों के प्रकाशन में सहायता दी जाए। अन्य भाषाओं के चाहे वह देशी हों, या विदेशी—उत्तमोत्तम ग्रंथों का उल्था किया जाए। नाटक-मंडलियां अच्छे-अच्छे नाटक खेलकर लोगों में हिंदी की आर रुचि पैदा करें। अच्छे-अच्छे विद्वानों द्वारा संपादित और सिद्धांतों को प्रचारित करने वाली पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हों। मंदिरों तथा देवालयों में हिंदी ग्रंथों के विशेषकर धार्मिक ग्रंथों के पठन-पाठन का सर्वत्र प्रबंध किया जाये। जितनी सार्वजनिक सस्थाएं हैं, उनमें हिंदी द्वारा ही सब काम किये जाएं। राजा-महराजा, सेठ-साहूकार, वकाल मुख्तार, शिक्षक-विद्यार्थी सभी अपने-अपने दफ्तरों तथा घरेलू कामों में हिंदी का ही व्यवहार करें। इन उपायों के अतिरिक्त सब श्रेणी के विद्यालयों में हिंदी साहित्य और हिंदी द्वारा अन्य विषयों की शिक्षा दी जाए।" हिंदी प्रेमी और उसके हिमायती स्वयं अपनी छाती पर हाथ रखकर देखें कि इस रीति-नीति से उन्होंने कितना क्या किया है।

पंडित जवाहर लाल नेहरू हिंदी के प्रति उतने श्रद्धालु नहीं थे जितने अन्य कई श्रद्धेय नेतागण। उनके लिए हिंदी एक भाषा मात्र थी इससे अधिक कुछ और नहीं। इसलिए हिंदी के बारे में उन्होंने जो उद्गार प्रकट किया है वह विशेष महत्व का है। उन्होंने संसदीय हिंदी

हिंदी परिषद् की पाक्षिक पत्रिका 'राजभाषा' के २२ मई, सन् १९५९ ईसवी वाले अंक में कहा है, "हिंदी में जान है, वह जीवित भाषा है और मुझे यकीन है कि वह उछलती-कूदती हुई तरक्की का अपना रास्ता खुद बना लेगी।'

जो हो, राजर्षि टंडन ने हिंदी को मां का पद प्रदान किया था। उन्होंने राष्ट्रभाषा की चर्चा करते हुए एक बार मुझसे कहा था, "अन्य सुंदर एवं समर्थ भाषाओं को हम श्रद्धा अथवा शिष्टाचार वश माता भले ही कह डालें परंतु अपनी कुरूप अथवा अपेक्षाकृत कम सुंदर गुणहीना जननी को मां कहने में जिस ममत्व और अपनत्व का अनुभव होता है वह अन्यत्र दुर्लभ एवं दुष्प्राप्य है।"

नेता जी सुभाषचंद्र बोस ने ठीक ही कहा था, "मैं हमेशा से यह अनुभव करता रहा हूं कि भारतवर्ष में एक राष्ट्रभाषा का होना आवश्यक है। जो इस बात को नहीं मानते हैं उन्हें एक बार विदेशों की यात्रा कर लेनी चाहिए। पिछले वर्ष जब मैं वियना के अपने यूरोपीय मित्र के यहां अन्य कई भारतीयों के साथ एक भोज में सम्मिलित हुआ तो वहां हम आपस में अंग्रेजी में बातचीत करने लगे। यूरोपीय मित्र को बड़ा ही आश्चर्य हुआ और उन्होंने पूछा कि आपलोग क्यों अंग्रेजी में बातचीत कर रहे हैं? इस प्रश्न को सुनकर हम लोगों का सिर लज्जा से झुक गया।

दुर्भाग्य की बात है कि हमारे देश के कुछ भागों में हिंदुस्तानी प्रचार के संबंध में भ्रम फैला हुआ है। उदाहरण के लिए मद्रास है। वहां स्कूलों में हिंदी को पाठ्य विषय बनाने का विरोध लोग करते हैं। उनकी धारणा है कि हिंदी की पढ़ाई से मातृभाषा या प्रांतीय भाषा भ्रष्ट हो जायेगी। प्रांतीय भाषाओं को मिटाकर उसके स्थान पर हिंदी का अधिपत्य होगा यह बिल्कुल भ्रमपूर्ण कल्पना है। प्रांतों में प्रांतीय भाषाएं प्रथम स्थान प्राप्त करेंगी। हिंदी को तो दूसरा ही स्थान चाहिए और हिंदी विरोध से हाथ खींच लेना चाहिए।"

राष्ट्रभाषा हिंदी और राष्ट्रलिपि देवनागरी के प्रति गांधी जी

राष्ट्रपिता बापू ने राष्ट्रभाषा हिंदी के हित में जो कार्य किया है और उनके विराट व्यक्तित्व द्वारा उसके प्रचार-प्रसार एवं प्रगति में जो प्रश्रय, प्रोत्साहन, सहयोग एवं सहायता मिली है, वह विरल है। निश्चय ही इस धारा को वेगवती बनाने में न तो आर्यसमाज, ईसाई मिशनरियों तथा गीताप्रेस जैसी संस्थाओं के महत्व को भुलाया जा सकता है, न नागरी प्रचारिणी सभा, हिंदी साहित्य सम्मेलन और दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के बहुमूल्य योगदान का मूल्य ही कम आंका जा सकता है। इसी प्रकार राजा राममोहन राय, लोकमान्य तिलक, महामना मालवीय और राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन जैसे मनीषियों की सेवाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

इस देश में ऐसे लोगों की कमी नहीं रही है जो राष्ट्रीय सम्मान और स्वाभिमान को तिलांजलि देकर देशी भाषाओं की अपेक्षा विदेशी भाषा को अपनाये रहने में आत्म-गौरव अनुभव करते थे। ऐसे महानुभावों को ही लक्ष्य कर गांधी जी ने कहा था, "देश-प्रेम और जनता के प्रेम के लिए हमें देशी भाषाओं की ओर निहारना चाहिए। राष्ट्रीय व्यवहार में हिंदी को काम में लेना देश की शीघ्र उन्नति होने के लिए अत्यावश्यक है।" इसी प्रकार अंग्रेजी की पहल करने वालों के बारे में उन्होंने लिखा, "कितने ही स्वदेशाभिमानी विद्वान कहते हैं कि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा होनी चाहिए। मेरी समझ में यह प्रश्न ही अज्ञान-दशा का सूचक है। हमारे स्वनामधन्य वायसराय ने एक बार अपने भाषण में अंग्रेजी के राष्ट्रभाषा होने की आशा प्रकट की है। वायसराय महोदय का मत है कि अंग्रेजी भाषा धीरे-धीरे इस देश में फैलेगी। यह हमारे घर-कुटुंबों में प्रवेश करेगी और बाद में राष्ट्रभाषा का उच्च पद प्राप्त करेगी। बाह्य दृष्टि से विचार करने पर यह बात कुछ ठीक जंचती है और अपने उस शिक्षित वर्ग की दशा देख कर, जो बिना अंग्रेजी की सहायता के अपना काम ही नहीं चला सकता, ऐसी ही सूचना मिलती है। परंतु दूरदर्शिता से

विचार करने पर ज्ञात होगा कि अंग्रेजी न तो राष्ट्रभाषा हो सकती है और न होनी चाहिए।" उनके इस वक्तव्य का आज भी उतना ही महत्व है।

अंग्रेजी के प्रति मोहग्रस्त लोगों को लक्ष्य करके गांधी जी ने बड़ी व्यथा से कहा था, "अंग्रेजी ने हम पर जो जादू का असर डाला वह अभी नष्ट नहीं हुआ। उसके कारण हम हिंदुस्तान की, उसके ध्येय की ओर प्रगति में रोड़े अटकाते हैं। हम अंग्रेजी सीखने में जितने साल बिताते हैं, उतने महीने अगर हिंदी सीखने में बिताने का कष्ट नहीं करते तो जनता के लिए हमारा प्रेम बिलकुल ऊपरी है।"

राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के प्रश्न पर गांधी जी इतने भाव-प्रवण थे कि उन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय के दीक्षांत-भाषण (सन् १९४२ ईसवी) के क्रम में कहा, "रास्ते में विश्वविद्यालय का विशाल प्रवेश द्वार पड़ा। उस पर नजर गई तो देखा, नागरी लिपि में 'हिंदू विश्व-विद्यालय' इतने छोटे अक्षरों में लिखा है कि ऐनक लगाने पर भी वे नहीं पढ़े जाते। पर अंग्रेजी में (रोमन लिपि में) 'बनारस हिंदू यूनिव-सिटी' ने तीन चौथाई से भी अधिक जगह घेर रखी थी। अगर दरवाजे पर फ़ारसी में, नागरी में या हिंदुस्तान की दूसरी किसी लिपि में कुछ लिखा जाता, तो मैं समझ सकता था। लेकिन अंग्रेजी में उसका वहां लिखा जाना भी हम पर जमे हुए अंग्रेजी ज़बान के साम्राज्य का एक सबूत है।"

सन् १९४२ ईसवी में गांधी जी ने रोमन लिपि के प्रयोग के बारे में 'हरिजन सेवक' में लिखा था, "रोमन लिपि का सुझाव अपनी खूबी के लिए नहीं, बल्कि समझौते के लिए किया गया है। उसके पक्ष में, सिवाय इसके कि वह सारी पश्चिमी दुनिया में फैली हुई, और कोई दलील नहीं।" इस विषय में अन्यत्र भी उन्होंने अपना विचार प्रकट किया, "कुछ लोग तो यहां तक कहते हैं कि हम भी यूरोप की रोमन लिपि को ग्रहण कर लें। लेकिन वाद-विवाद के बाद यह विचार बन चुका है कि हमारी सामान्य लिपि देवनागरी ही हो सकती है और कोई नहीं। उर्दू को उसका प्रतिस्पर्धी बताया जाता है, लेकिन मैं समझता हूं कि उर्दू या रोमन किसी में भी वैसी पूर्णता और ध्वन्यात्मकता नहीं है, जैसी देवनागरी में है।"

गांधी जी का राष्ट्रभाषा-प्रेम, वास्तव में उनके राष्ट्र-प्रेम का पर्याय था। इसका सर्वप्रथम परिचय उनके गुजरात शिक्षा-परिषद्, भड़ौंच

वाले अधिवेशन सन् १९१७ ईसवी में प्रकट हुआ था जिसमें उन्होंने हिंदी का महत्व दरसाया था। इसी की पुनरावृत्ति उन्होंने उसी वर्ष कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में की थी और तिलक महाराज से हिंदी में भाषण करने का आग्रह पूर्वक अनुरोध किया था। सन् १९२५ ईसवी में कांग्रेस के कानपुर अधिवेशन में उनकी प्रेरणा से ही राष्ट्रभाषा हिंदी विषयक निम्नलिखित प्रस्ताव पारित हुआ, "कांग्रेस की यह सभा प्रस्ताव करती है कि कांग्रेस कमेटी और वर्किंग कमेटी की कार्रवाई आम तौर पर हिंदी (हिंदुस्तानी) में चलेगी। अगर कोई व्यक्ति हिंदी न जानता हो या दूसरी आवश्यकता पड़ने पर अंग्रेजी या प्रांतीय भाषा काम में लायी जा सकती है। प्रांतीय कमेटियों की कार्रवाई आमतौर पर प्रांतीय भाषाओं में चलेगी। हिंदी भी प्रयोग में लायी जा सकती है।"

राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति गांधी जी की दृढ़ आस्था तथा सबल भावना से प्रभावित होकर हिंदी साहित्य सम्मेलन ने सन् १९१८ ईसवी में उन्हें अपना सभापति चुना। उनके सुझाव पर ही सम्मेलन ने अहिंदी क्षेत्रों में हिंदी-प्रचार की व्यापक योजना तैयार कर उसके लिए विस्तृत कार्यक्रम बनाया। इस कार्यक्रम को अग्रसर करने के लिए उन्होंने देवदास को दक्षिण भारत भेज दिया। सम्मेलन के तत्वावधान और गांधी जी के संरक्षण में लगभग दस वर्षों तक यह क्रम चलता रहा। फिर सन् १९२७ ईसवी में उनके सुझाव पर 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' का गठन हुआ और उसने इसका दायित्व अपने हाथों में ले लिया। परंतु गांधी जी इस दायित्व की गुरुता को समझते थे, इसलिए उन्होंने इस विषय में अपना विचार स्पष्ट करते हुए हिंदी-भाषियों को सचेत कर दिया, "हिंदी-भाषियों के ऊपर कई जिम्मेवारियां हैं। उन्हें राष्ट्रभाषा-प्रचार में योग देने की अपेक्षा राष्ट्रभाषा का साहित्य-निर्माण करने के काम पर अधिक ध्यान देना चाहिए। राष्ट्रभाषा प्रचार में अधिक-से-अधिक ध्यान वे तब दे सकेंगे जबकि अहिंदी प्रांतों में वे स्वयं जाकर बस जाएंगे। इलाहाबाद या बनारस से इन प्रांतों के कार्यों पर नियंत्रण करने का प्रयत्न करना, हाथ बंटाना नहीं हस्तक्षेप करना ही कहलाएगा।"

'सभा' की प्रगति से गांधी जी को संतोष न हुआ। दक्षिण भारत के हिंदी-प्रेमियों को संबोधित करते हुए एक संदेश में उन्होंने लिखा था, "दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार का जो कार्य हो रहा है, उसका विवरण सुन कर साधारणतया संतोष ही होना चाहिए। लेकिन तब तक मुझे

पूरा संतोष नहीं होगा, जब तक हिंदी न जानने वाला एक भी दक्षिण भारतीय रहे।"

सन् १९३४ ३५ ईसवो में गांधी जी ने काका कालेलकर को दक्षिण की परिस्थिति की जांच तथा अध्ययन कर अपना सुझाव देने के लिए दक्षिण भारत भेजा। इस यात्रा के संबंध में 'हिंदी-प्रचारक' के जनवरी सन् १९३५ ईसवी के अंक के एक संपादकीय में उन्होंने लिखा, "हिंदी का संदेश लेकर आप (काका साहब) दक्षिण में जब-जब गए, प्रचारकों को एक नया प्रकाश देकर आए। अबकी बार तो आपने कई असुविधाओं को सह कर महान त्याग-निष्ठा के साथ लगातार तीन महीने तक हिंदी प्रचार के हेतु दक्षिण में भ्रमण किया। दक्षिण के एक सिरे से दूसरे सिरे तक राष्ट्रीयता के विकास रूपी हिंदी के प्रकाश को फैलाते ही नहीं रह गए, बल्कि उसमें एक अद्‌भुत शक्ति भी भरते गए। सैकड़ों हिंदी-प्रेमियों से जिस तरह से आप मिले, जिस सहिष्णुता एवं श्रम के साथ उनकी हिंदी-सेवा की आकांक्षाओं को सुदृढ़ किया, उनकी कठिनाइयों की जांच कर जिस प्रज्ञा के साथ उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया; वह काका साहब जैसे प्रगाढ़ विद्वान, विशेष अनुभवी एवं सच्चे देशभक्त ही कर सकते हैं। आपने अपनी इस अमूल्य सहायता से समस्त हिंदी-प्रचारकों के लिए पथ-प्रदर्शक का काम किया है।"

तदनुसार सन् १९३६ ईसवी में 'दक्षिण भारत हिंदी-प्रचार सभा' की चार प्रांतीय शाखाओं की स्थापना तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम प्रदेश में हुई। इनके संचालन के लिए पृथक से हिंदी प्रचार समिति बनी और सन् १९३७ ईसवी में इसी का नया नामकरण हुआ—'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति'। यह अपने ढंग का अद्वितीय कदम था जिसने राष्ट्र-भाषा प्रचार-कार्य में नया मोड़ ला लिया।

गांधी जी के ऐसे कार्यों से उल्लसित होकर सन् १९३३ ईसवी में मालवीय जी महाराज ने उच्छ्वसित भाव से लिखा, "गांधी जी के उत्तम कामों में दक्षिण भारत हिंदी-प्रचार सभा, मद्रास प्रांत में हिंदी-प्रचार का काम बहुत उत्साह से कर रही है। राष्ट्रभाषा और राष्ट्रभाव के प्रेमी सज्जनों से मैं अनुरोध करता हूं कि वे अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार इस उत्तम काम में सहायता दें।"

भाषा के विषय में गांधी जी का मत बहुत स्पष्ट था। उनके अनुसार, "भाषा वही श्रेष्ठ है जिसको जन-समूह सहज में समझ ले।

देहाती बोली सब समझते हैं। भाषा का मूल करोड़ों मनुष्य रूपी हिमालय में मिलेगा और उसमें ही रहेगा। हिमालय में से निकलती हुई गंगा जी अनंत काल तक बहती रहेंगी। ऐसे ही देहाती हिंदी का गौरव रहेगा और जैसे छोटी-सी पहाड़ी से निकलता हुआ झरना सूख जाता है, वैसे संस्कृतमयी तथा फ़ारसीमयी हिंदी की दशा होगी।"

गांधी जी को यह भलीभांति पता था कि "अंग्रेजी भाषा वर्तमान में जो सत्ता भोग रही है, वह अस्थायी है। अंग्रेजी राष्ट्रभाषा हो यह हमारी निर्बलता सूचित करती है। पांच लक्षणों से युक्त हिंदी भाषा की समता करनेवाली दूसरी कोई भाषा है ही नहीं। हिंदी-भाषा का निर्माण राष्ट्रभाषा के योग्य ही हुआ है और वह बहुत बरसों पहले राष्ट्रभाषा की भांति व्यवहृत हो चुकी है।" ये पांच लक्षण इस प्रकार हैं : (१) वह भाषा राज-कर्मचारियों के लिए सरल हो, (२) उस भाषा के द्वारा भारतवर्ष के परस्पर के धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवहार निभ सकें, (३) उस भाषा को देश के अधिकांश निवासी बोलते हों, (४) वह भाषा राष्ट्र के लिए सरल हो, और (५) वह भाषा क्षणिक या अल्पस्थायी स्थिति के ऊपर निर्भर न हो।

अंत में, गांधी जी की यह अविस्मरणीय उक्ति सदा ध्यान में रहनी चाहिए, "अगर स्वराज्य अंग्रेजी बोलने वाले भारतीयों का उन्हीं के लिए होने वाला हो तो निस्संदेह अंग्रेजी ही राष्ट्रभाषा होगी। लेकिन अगर स्वराज्य करोड़ों भूखों मरनेवालों, करोड़ों निरक्षरों, निरक्षर बहनों और दलितों एवं अंत्यजों का हो और इन सबके लिए होने वाला हो तो हिंदी ही एकमात्र भाषा हो सकती है।"

इसलिए गांधी जी के अनुसार हमें ऐसा उद्योग करना चाहिए कि "एक वर्ष में राजकीय सभाओं में, कांग्रेस में, प्रांतीय सभाओं में और अन्य सभा-समाज और सम्मेलनों में अंग्रेजी का एक शब्द सुनायी न पड़े। हम अंग्रेजी का व्यवहार बिलकुल त्याग दें। अंग्रेजी सर्वव्यापी भाषा है, पर यदि अंग्रेज सर्वव्यापक न रहेंगे तो अंग्रेजी भी सर्वव्यापी न रहेगी। अब हमें अपनी मातृभाषा को और नष्ट करके उसकी हत्या नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार अंग्रेज, अपनी मातृभाषा अंग्रेजी में ही बोलते और सर्वथा उसे ही व्यवहार में लाते हैं, उसी प्रकार से आपसे

प्रार्थना करता हूं कि आप हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का गौरव प्रदान करें।"

लिपि भाषा की चित्रात्मक अभिव्यक्ति है। इसके द्वारा भाषा रूपायित होती है और उसे स्थायित्व प्राप्त होता है। फिर भी चित्र जहां दृश्यात्मक होते हैं वहां लिपि ध्वन्यात्मक होती है। भाव, विचार तथा अनुभव की प्रेषणीयता को दीर्घजीवी बनाने में लिपि द्वारा पर्याप्त सुविधा एवं सहायता मिलती है। इसके द्वारा पूर्वजों की धरोहर की सुरक्षा रहती है और परवर्ती पीढ़ी को उनसे लाभ उठाने के अवसर उपलब्ध होते रहते हैं। साहित्यिक कृतियों का टिकाऊपन लिपियों द्वारा संभव हो पाता है। इस प्रकार सांस्कृतिक विकास का पथ प्रशस्त हो जाता है।

लिपि-उत्पत्ति के विषय में विशेषज्ञों में मतभेद है। एक पक्ष यदि इसकी उत्पत्ति भाषा के पूर्व का बतलाया है तो दूसरा पक्ष भाषा के पश्चात लिपि का प्रादुर्भाव स्वीकार करता है। प्रथम पक्ष संकेत द्वारा चित्रण-पद्धति का वर्णात्मक से ध्वन्यात्मक विकास मानता है और द्वितीय पक्ष विचारात्मक प्रक्रिया से भाषा की अनिवार्यता स्वीकारता है। अपने तर्क की पुष्टि में वह लिपि विहीन भाषाओं के उदाहरण प्रस्तुत करता है।

भाव एवं भाषा का सीधा संबंध है और भाषा के माध्यम से लिपि तथा भाव का संपर्क होता है। लिपि और भाषा दोनों ही अर्जित हैं, किंतु एक यदि सायास सुलभ होती है तो दूसरी अनायास ही उपलब्ध हो जाती है। ध्वनियों के आधार पर रेखाबद्ध आकृतियां उभड़ती हैं और लिपि-चिह्न निर्मित होते हैं जिनके माध्यम से भाषा को अभिव्यक्ति मिलती है। इसके लिए यद्यपि किसी एक ही लिपि तक सीमित रहने की अनिवार्यता नहीं है तथापि लिपि-परिवर्तन को वांछनीय नहीं समझा जाता है। इससे पुरातन थातियों से वंचित रहने की आशंका उत्पन्न हो जाती है। फिर भी भाषा का प्रत्यक्ष प्रयोग मूलतः सामाजिक स्तर पर होता है और लिपि का परोक्ष उपयोग प्रायः वैयक्तिक व्यवहार के लिए किया जाता है।

राष्ट्रलिपि का प्रश्न गांधी जी ने सन् १९१७ ईसवी में ही गुजरात शिक्षा परिषद् के भड़ौच वाले अधिवेशन में राष्ट्रभाषा के साथ ही उठाया था। अपने सभापति-पद से दिये गए भाषण में उन्होंने कहा था, "फिलहाल मुसलमान लड़के जरूर ही उर्दू (फ़ारसी) लिपि में

लिखेंगे। हिंदू ज्यादातर देवनागरी में लिखेंगे। 'ज्यादातर' शब्द का प्रयोग मैं इसलिए कर रहा हूं कि हजारों हिंदू आज भी अपनी हिंदी उर्दू (फ़ारसी) लिपि में लिखते हैं और कुछ तो ऐसे हैं जो देव-नागरी लिपि जानते भी नहीं। आखिर, जब हिंदू और मुसलमान के बीच शंका की थोड़ी भी दृष्टि न रहेगी, जब अविश्वास के कारण दूर हो चुकेंगे तब जिस लिपि में शक्ति होगी वह लिपि ज्यादा लिखी जाएगी और वह राष्ट्रलिपि बनेगी"। इस उक्ति का मूल कारण हिंदू-मुसलमान के बीच उत्पन्न शंकालु दृष्टि में निहित है, लिपि की वैज्ञानिकता अथवा व्यावहारिकता के निमित्त नहीं।

इसी बात को गांधी जी ने पुनः सन् १९१८ ईसवी में हिंदी साहित्य सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन में दुहराते हुए कहा था, "मुसलमान भाई उर्दू (फ़ारसी) लिपि में ही लिखेंगे। हिंदू बहुत करके (देव) नागरी लिपि में लिखेंगे। राष्ट्र में दोनों लिपियों को स्थान मिलना चाहिए। राज-कर्मचारियों को दोनों लिपियों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। उसमें कुछ कठिनाई नहीं है। अंत में जिस लिपि में ज्यादा सरलता होगी उसकी विजय है।" उन्हें देवनागरी लिपि की विजय और सफलता का विश्वास था। उसकी उपयोगिता और व्यावहारिकता में उन्हें रंचमात्र भी संदेह न था। वे उसके प्रति आश्वस्त थे। 'नवजीवन' के २१ जुलाई सन् १९२७ ईसवी वाले अंक में उन्होंने लिखा, "सचमुच मेरा दृढ़ विश्वास है कि भारत की तमाम भाषाओं के लिए एक ही लिपि का होना फायदे-मंद है और वह लिपि देवनागरी ही हो सकती है। इसमें शक नहीं कि हिंदू-मुसलमान पागलपन, सुधार के मार्ग में एक महान विघ्न है। पर इसके पहले कि देवनागरी भारत की एक मात्र लिपि हो जाय, हमें हिंदू भारत को इस कल्पना के पक्ष में कर लेना चाहिए कि तमाम संस्कृत-जन्य और द्रविड़ भाषाओं के लिए एक ही लिपि हो। यदि तमाम व्यवहार्य और राष्ट्रीय कामों के लिए इन सब लिपियों के स्थान पर देवनागरी का उपयोग होने लग जाय, तो वह एक भारी प्रगति होगी। उसे हिंदू-भारत सुदृढ़ हो जाएगा और भिन्न-भिन्न प्रांत एक दूसरे के अधिक निकट आ जाएगे।"

इसी संदर्भ में गांधी जी ने 'हरिजन सेवक' के १० मई सन् १९२९ ईसवी वाले अंक में लिखा, "हमें अपने बालकों को विभिन्न प्रांतीय लिपियां सीखने का व्यर्थ कष्ट नहीं देना चाहिए। यह निर्दयता नहीं तो और

क्या है कि देवनागरी के अतिरिक्त तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, उड़िया और बंगाली इन छह लिपियों को सीखने में दिमाग खपाने को उनसे कहा जाय ? अगर आज कोई प्रांतीय भाषाएं सीखना चाहे और प्रांतीय भाषा-भाषी हिंदी पढ़ना चाहें तो लिपियों का अभेद्य प्रतिबंध ही उसके मार्ग में कठिनाई उपस्थित करता है।"

गांधी जी ने सन् १९३७ ईसवी में भारतीय साहित्य परिषद् के मद्रास वाले अधिवेशन में कहा था जिसका विवरण उसी वर्ष के 'हरिजन सेवक' के १० मई वाले अंक में छपा था, "कुछ लोग तो यहां तक कहते हैं कि हम भी यूरोप की रोमन लिपि को ग्रहण कर लें। लेकिन फिर वाद-विवाद के वाद यह विचार बन चुका है कि हमारी सामान्य लिपि देवनागरी ही हो सकती है और कोई नहीं। उर्दू (फ़ारसी) को उसका प्रतिस्पर्धी बताया जाता है, लेकिन मैं समझता हूं कि उर्दू (फ़ारसी) या रोमन किसी में भी वैसी पूर्णता या ध्वन्यात्मकता नहीं है, जैसी देव-नागरी में है।"

रोमन लिपि के प्रयोग की व्यर्थता को दरसाते हुए गांधी जी ने १८ फरवरी १९३९ ई० के 'हरिजन सेवक' में लिखा, "मुझे मालूम हुआ है कि असल में कुछ जातियों को देवनागरी लिपि की जगह रोमन लिपि में लिखना-पढ़ना सिखाया जा रहा है। मैं अपनी राय जाहिर कर ही चुका हूं कि अगर हिंदुस्तान में सर्वमान्य हो सकने वाली लिपि है तो देवनागरी ही है, भले ही उसमें सुधार की गुंजाइश हो या न हो। शुद्ध वैज्ञानिक और राष्ट्रीय दृष्टि से जब तक मुसलमान भाई अपनी राजी से देवनागरी लिपि की श्रेष्ठता स्वीकार नहीं करते, तब तक उर्दू या फ़ारसी लिपि जरूर जारी रहेगी। इन दो लिपियों के साथ रोमन लिपि का मेल नहीं बैठता। रोमन लिपि के समर्थक तो इन दोनों लिपियों को रद्द कर देने की राय देंगे, किंतु विज्ञान तथा भावना दोनों दृष्टियों से रोमन लिपि नहीं चल सकती।"

महात्मा जी की दृष्टि में रोमन लिपि का सीखना लोक-जागरण के मार्ग में बाधक है। उन्होंने 'हरिजन सेवक' में ही लिखा, "रोमन लिपि का मुख्य लाभ इतना ही है कि छापने और टाइप करने में यह लिपि आसान पड़ती है। किंतु करोड़ों मनुष्यों का इसे सीखने में जो मेहनत पड़ती है, उसे देखते हुए इस लाभ को हमारे लिए कोई मूल्य नहीं। लाखों-करोड़ों को तो देवनागरी में या अपने-अपने प्रांत की लिपि

में ही लिखा हुआ, अपने यहां का साहित्य पढ़ना है। इसीलिए उन्हें रोमन लिपि जरा भी सहायता नहीं पहुंचा सकती। करोड़ों हिंदुओं और मुसलमानों के लिए देवनागरी का सीखना आसान है, क्योंकि अधिकांश प्रांतीय लिपियां देवनागरी से निकली हैं।" उन्होंने आगे चल कर यह भी लिखा, "मैंने मुसलमानों का समावेश जान-बूझ कर किया है। मसलन बंगाल के मुसलमानों की मादरी जबान बंगाली है और तामिलनाडु के मुसलमानों की तमिल। उर्दू प्रचार के वर्तमान आंदोलन का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि हिंदुस्तान भर के मुसलमान अपनी-अपनी प्रांतीय भाषा के अलावा उर्दू भी सीखेंगे। किन्हीं भी परिस्थितियों में 'क़ुरान शरीफ़' पढ़ने के लिए उन्हें अरबी तो सीखनी ही पड़ेगी। मगर करोड़ों हिंदू-मुसलमानों के लिए रोमन लिपि का प्रयोजन तो अंग्रेजी सीखने के सिवाय कुछ भी नहीं। इसी तरह हिंदुओं को अपने धर्म-ग्रंथ मूल भाषा में पढ़ने के लिए देवनागरी सीखने की जरूरत पड़ती है और वे उसे सीखते ही हैं। इस तरह देवनागरी लिपि को सर्वमान्य बनाने के पीछे दृढ़ कारण है।"

बापू-वाणी

"भाषा वही श्रेष्ठ है जिसको जन-समूह सहज में समझ ले। देहाती बोली सब समझते हैं। भाषा का मूल करोड़ों मनुष्यरूपी हिमालय में मिलेगा और उसमें ही रहेगा। हिमालय में से निकली हुई गंगा जी अनंत काल तक बहती रहेंगी, ऐसे ही देहाती हिंदी का गौरव रहेगा और जैसे छोटी-सी पहाड़ी से निकलता हुआ झरना सूख जाता है, वैसे संस्कृतमयी तथा फ़ारसीमयी हिंदी की दशा होगी।"

●

स्वरूप

लोकभाषा की परंपरा

'देशी' एक विवादास्पद शब्द है। इसके संदर्भगत अर्थ के भूल-भुलये में कभी प्राकृत तो कभी अपभ्रंश अथवा अवहट्ठ की ओर ध्यान दिया गया है। इस पर प्रायः विचार नहीं किया गया है कि प्राकृत, अपभ्रंश अथवा अवहट्ट के संदर्भ में यह भिन्नार्थी है। पिशेल ने इस पर विचार करके इसे पचमेल जैसा बतलाया है। ग्रियर्सन, उपाध्ये और तगारे ने भी इस पर अपना मत दिया है। यह शब्द पहले विशेषण रूप में और बाद में संज्ञा रूप में प्रयुक्त होने लगा। भरत द्वारा 'देशीमत' का प्रयोग विशेषण रूप में हुआ है। भाषा के लिए इसका व्यवहार परवर्ती है। भरत के अनुसार देशी संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों से भिन्न है। इसके पहले इस शब्द का प्रयोग पाणिनि अथवा वात्स्यायन आदि ने प्रांत अथवा प्रदेश-विशेष के अर्थ में किया है। पिशेल ने भी संस्कृत से व्युत्पन्न न होने वाले शब्दों को ही देशी माना है।

'तरंगावई कहा' में प्राकृत को 'देसो वयण' सूचित किया गया है और 'कुवलयमाला' में सामान्य प्राकृत से भिन्न 'माहट्टय देसो वयण' बतलाया गया है। इसी प्रकार यदि 'लोलावई गाहा' में इसे 'मरहट्ट देसी भासा' कहा गया है और 'महापुराण' की भाषा को 'देशी' की संज्ञा दी गई है। फिर 'पउम चरिउ' में 'देसी भाषा' माना गया है तथा 'पासणाहचरिउ' में इसे 'देसिल बयना' जैसा 'अवहट्ठ' स्वीकार किया गया है। 'पाहुड़ दोहा' की भूमिका में हीरालाल जैन ने अपभ्रंश को ही देशी मानने की प्रवृत्ति प्रदर्शित की है। इन बातों से यह प्रकट होता है कि लोक प्रचलित देशी भाषा को ही साहित्यिक भाषा बनने के बाद आलंकारिकों तथा वैयाकरणों से प्राकृत कहना आरंभ किया। उक्त देशी भाषा का ही विकास अपभ्रंश रूप में हुआ और वही प्राकृत का स्थानापन्न बन बैठी। फिर लोक प्रचलित अपभ्रंश न जब भामह के समय छठी शताब्दी में साहित्यिक भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया तब तत्कालीन लोक प्रचलित भाषा देशी कहलाई। विद्यापति का 'देसिल बयना' इसी अर्थ में प्रयुक्त है। मैथिली यदि 'देसिल बयना' है तो काशिका भाखा 'बहता नीर' है। फिर अवधी 'ग्राम्य गिरा' है। महाभारत (शल्य पर्व, अध्याय ४६) में जहां नाना भाषाओं का उल्लेख हुआ है वहां उसका अभिप्रेत लोक प्रचलित भाषा ही है।

बारहवीं शताब्दी में हेमचंद्र ने 'देशी नाममाला' का संकलन-संपादन किया था। उसमें इन्होंने ऐसे शब्दों को लिया था जिनकी संस्कृत व्युत्पत्ति तब संभव नहीं जान पड़ी थी। टीकाकार अभिनव गुप्त ने भाषा को संस्कृत का अपभ्रंश रूप माना है और भाषा के विकार को विभाषा बतलाया है। देश-भेद से इसमें वैभिन्न आ गया जिस कारण इसे देशी कहा जाने लगा। परंतु षड्भाषाओं में इसकी गणना नहीं की गई है। जो हो, नामवर सिंह ने ठीक ही लिखा है, "प्रत्येक युग में साहित्य रूढ़ भाषा के समानांतर कोई-न-कोई देशी अवश्य ही रही है और यही देशी भाषा उस साहित्यिक भाषा को नया जीवन प्रदान कर सदैव विकसित करती चलती है।"

ग्रियर्सन ने संस्कृत में लौकिक शब्दों की संभावना बतलायी है। यास्क और पाणिनि की भाषा में प्रयुक्त लौकिक शब्दों का निर्णय भी लोकाश्रित है—'लोक एवात्र शरणम्'। वैदिक छांदस् भाषा से भिन्न भाषा के लिए लौकिक भाषा का प्रयोग मिलता है। लौकिक प्रयोगों की वृद्धि के ही कारण संभवतः पाणिनि का ध्यान 'अष्टाध्यायी' लिखने की ओर आकर्षित हुआ। इस संदर्भ में सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का मत उल्लेखनीय है, "पाणिनि के समय में लौकिक या प्रचलित संस्कृत का भारतीय आर्य प्रादेशिक बोलियों में संभवतः वही स्थान रहा होगा जो आधुनिक काल में हिंदी या हिंदुस्तानी का है।"

तत्कालीन बोलियां लोक-व्यवहार में फलती-फूलती रहीं। गौतम बुद्ध द्वारा व्यवहृत तथा बुद्ध घोष द्वारा घोषित पालि एक ऐसी ही लोक प्रचलित भाषा है। पालि के अध्ययन से भाषा संबंधी लोक-प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। लोकभाषा को जानने-पहचानने का सर्वोपरि माध्यम लोक ही है। इसलिए नमि साधु ने अपभ्रंश के बढ़ते प्रभाव को लक्ष्य कर उसे प्राकृत का ही एक रूप स्वीकार कर लिया और छठी शताब्दी से वह पृथक अस्तित्व में आ गई तथा पूर्व मध्य-कालीन साहित्यिक भाषा के रूप में इसका प्रचलन रहा। परंतु भायाणी के अनुसार, "अपभ्रंश के विषय में सबसे मुख्य विशेषता यह है कि यह एक मिश्रित रूप की भाषा मालूम पड़ती है। उसके उच्चारण तथा शब्दकोश का मूल एक है तथा व्याकरण का मूल दूसरा ही। प्राकृत के साथ तुलना करने पर अपभ्रंश में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई पड़ता।" याकोबी का मत भी इससे भिन्न नहीं है।

फिर भी बारहीं शताब्दी तक में इसके कई स्तर-भेद बन गए थे जिनसे हेमचंद्र परिचित थे। इस संदर्भ में उदयनारायण तिवारी का मत उल्लेखनीय है, "हेमचंद्र का व्याकरण लिखना यह सिद्ध करता है कि उनके समय तक बोलचाल की भाषा अपभ्रंश को छोड़ आगे बढ़ गई थी।" इस प्रकार साहित्यिक अपभ्रंश और लोक प्रचलित अपभ्रंश का मोटा अंतर स्पष्ट हो चुका था। उनकी कृत्रिमता और स्वाभाविकता का भेद समझना कठिन न था। 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' में इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। इस प्रसंग में अन्य पुस्तकों के नाम भी गिनाये जा सकते हैं। इनमें 'वर्ण-रत्नाकर', 'कीर्तिलता' और 'संदेश रासक' जैसे ग्रंथ मुख्य हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन्हीं के विकास-क्रम में आधुनिक देशी भाषाओं का विकास माना है। मध्यकालीन लोकभाषा का आरंभ दसवीं शताब्दी से ही आरंभ हो चुका था। परंतु लोकभाषा किसी एक भाषा तक सीमित नहीं रहती है। लोकवाणी ही लोकभाषा कहलाती है।

अपभ्रंश के प्रसंग में लिखते हुए राहुल जी ने ठीक ही कहा है, "अपभ्रंश वैसे केवल हिंदी की अपनी चीज नहीं है। उस पर उत्तर भारतीय या भारत की हिंदू (आर्य), सभी भाषाओं का समान अधिकार है। वह मराठी, गुजराती, पंजाबी, हिंदी क्षेत्र की भाषाओं—राजस्थानी, मालवी, बुंदेली, हरियानी, कौरवी (मूल हिंदी), पहाड़ी, ब्रज, अवधी, मगही, भोजपुरी, मैथिली, असमिया, बंगला और उड़िया की अपनी निधि है। इन सभी भाषाओं के क्षेत्र में अपभ्रंश साहित्य की रचना हुई, उसको अपना समझा गया और वह सभी को अपने दायभाग के रूप में मिली।"

हेमचंद्र द्वारा प्रयुक्त 'ग्राम्य' शब्द से लोकभाषा का ही बोध होता है। सुकुमार सेन ने साहित्येतर अपभ्रंश को 'लौकिक' कहा है। इस प्रकार लोकभाषाओं की स्वतंत्र परंपरा वैदिक काल से ही सामनांतर रूप में मिलती है। जनपदीय बोलियों में इसी परंपरा का विकास पाया जाता है। नव्य भारतीय भाषाओं का आधार यही बोलियां हैं जिनमें आर्येतर भाषाओं के शब्द भी नाना कारणों से प्रवेश पा गए हैं। भाषा विज्ञान में यद्यपि लोकभाषा के लिए बोलियों का प्रयोग किया जाता है तथापि व्यवहार में 'लोकभाषा' शब्द का प्रयोग स्वीकृत है।

●

पालि, प्राकृत और अपभ्रंश (अवहट्ट)

पालि

पालि मूलतः बौद्धपिटक की भाषा है जो पूर्वी तथा पश्चिमी भाषाओं के मिश्रण से धार्मिक भाषा के रूप में व्यवहृत हुई है। इसे किसी एक देश-काल विशेष की भाषा ठहराना कठिन है, क्योंकि बुद्ध के उपदेशों का संकलन-संपादन उनकी मृत्यु के पांच सौ वर्ष बाद तक होता रहा और इस अवधि में भाषा के रूप में परिवर्तन का होना अवश्यंभावी था। यही नहीं पूर्वी तथा पश्चिमी विद्वानों की संगति में उपदेशों की दूसरी वाचना के फलस्वरूप भाषा-संस्कार (वर्ण-संकरता) का होना स्वाभाविक था। इसलिए निश्चय पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि पालि का जो रूप आज उपलब्ध है वह अपने पूर्ववर्ती रूप के अनुरूप हैं। डा० पी. बी. पंडित उक्त मत के पुरस्कर्ता हैं, किंतु डा० सुकुमार सेन उनके मत से सहमति प्रकट करते नहीं जान पड़ते।

डा० सुकुमार सेन के अनुसार पालि दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण की भाषा रही है। अशोक के अभिलेखों की दक्षिणी-पश्चिमी विभाषा से कुछ-न-कुछ समानता है। इसमें मध्यपूर्वी विभाषा की भी कुछ प्रवृत्तियां उपलब्ध हैं, जैसे अः > ए और र् > ल्। सघोष महाप्राण व्यंजनों की जगह ह् का बच रहना और स्वर-मध्यग व्यंजनों का लोप तथा उनके स्थान पर य् व श्रुति का सन्निवेश कुछ ही शब्दों में शेष है, जैसे लहु (अशोक प्रा० में भी) < लघु, रुहिर < रुधिर आदि। स्वर-मध्यम व्यंजनों के सघोषीकरण के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं, जैसे, उदाहु < उताहो, पतिगंज (पटिकंच भी) < प्रतिकृत्य आदि।

डा० सेन का यह भी कहना है कि "इन परिवर्तनों के अतिरिक्त अन्य बातों में पालि प्रारंभिक मध्य भारतीय आर्यभाषा की सामान्य प्रवृत्तियों को ठीक-ठीक प्रदर्शित करती है।"[1] विरल शब्दों में सघोष व्यंजनों का अघोषीकरण तथा अल्पप्राण का महाप्राणीकरण भी हुआ है, जैसे, छकल < छागल, मुतिग < मृदंग आदि। पालि की एक अन्य

---

१. डा० सुकुमार सेन : तुलनात्मक व्याकरण, पृ० २९–३०।

विशेषता व्यंजनांत प्रातिपादिकों के शब्द-रूपों को सुरक्षित रखने में पायी जाती है जो संस्कृत प्रभाव के कारण संभव है। इसके अतिरिक्त पालि ने वैदिक संस्कृत के कतिपय प्राचीन रूपों को भी अछूता रहने दिया है।

पालि में शब्दों अ अ अ (आ) का स्वर-क्रम प्रायः अ इ अ (आ) के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है और ह्रस्व स्वर को समीपवर्ती संयुक्त व्यंजन के सरलीकरण की स्थिति में कभी-कभी दीर्घ कर दिया गया है, जैसे चरिय<चरम, सासप<सर्षप। कभी-कभी पलिख<परिघ। यत्र-तत्र अल्प प्राण ध्वनियों का महाप्राणीकरण र>ल। सघोष ध्वनियों का ह् ध्वनि में विकास तथा स्वर-मध्यग व्यंजनों का लोप और उसके फलस्वरूप य, व श्रुति का आगम, ये दोनों प्रवृत्तियां कुछ सीमित उदाहरणों में ही देखी जाती हैं, जैसे, निय<निज, सुव-शुक।

प्राकृत

भाषाविदों द्वारा बैदिकोत्तर आर्यभाषा को समानार्थी शब्दों के क्षेत्रीय प्रयोग के आधार पर, मुख्य रूप से तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। उत्तर-पश्चिमी, मध्यवर्ती और पूर्वी। मध्य भारतीय आर्यभाषा की सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक सामग्री अशोक के अभिलेखों द्वारा उपलब्ध है जिसके चार विभाषीय वर्गों का पता चलता है : उत्तर पश्चिमी, पश्चिम पूर्व मध्यवर्ती और पूर्वी। कालांतर में संस्कृत की प्रभाव-वृद्धि के साथ-साथ विभाषीय भेदों के पूर्व रूप का लोप होता गया और परवर्ती अभिलेखों की भाषा के तीन विभाषीय वर्ग विकसित हुए : उत्तर-पश्चिमी, मध्यवर्ती और पूर्वी। इनमें से अंतिम दो वर्गों की भिन्नता ध्वनि-परिवर्तन पर आधारित थी। केवल प्रथम वर्ग ने अपनी अन्य विशेषताओं से समन्वित होकर अपना पृथक अस्तित्व बनाये रखा। ध्वनि-परिवर्तन में उत्तर-पश्चिम की विभाषा सर्वाधिक संरक्षणशील थी और पूर्वी सर्वोपरि अग्रगण्य।

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक मध्य भारतीय आर्यभाषा अखिल भारतीय स्तर पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी जो आगे चलकर 'बौद्ध संस्कृत' कहला कर प्रसिद्ध हुई। प्राकृत का जो रूप हमें संस्कृत-नाटकों तथा प्राकृत-काव्यों में उपलब्ध है वह भारतीय आर्यभाषा के विकास-क्रम में सीधे नहीं आता। वस्तुतः वह मध्य भारतीय आर्यभाषा के द्वितीय पर्व के व्याकरण-सम्मत कृत्रिम रूप हैं।

उत्तर-पश्चिमी विभाषीय वर्ग के उदाहरण खरोष्ठी लिपि में लिखित अशोक के पाठ में विभाषीय भेद शाहबाजगढ़ी और मानसेहरा अभिलेख में मिलते हैं। फिर दक्षिण-पश्चिमी विभाषीय वर्ग का रूप गिरनार के अभिलेख में उपलब्ध है। यह म. भा. आ. का सर्वाधिक प्राचीन रूप है। इसी प्रकार मध्यपूर्वी विभाषीय वर्ग का निदर्शन टोपरा (दिल्ली) स्थित स्तंभ-लेख तथा मसूरी के निकटस्थ कालसी के अभिलेख द्वारा होता है। लंका के अभिलेख भी इसी कोटि में आते हैं। जोगीमारा तथा नागार्जुनी के गुहा-अभिलेख भी इसी वर्ग के हैं। अंत में, पूर्वी विभाषीय वर्ग की परिधि में अशोक और खारवेल तथा उसकी रानियों के अभिलेखादि आते हैं।

ईसा की प्रथम शताब्दी के नाटककार अश्वघोष की मध्य एशिया से उपलब्ध रचना (जिसका संपादन एच. लूडर्स ने किया है) से तीन विभाषाओं—दुष्ट की विभाषा, गणिका तथा विदूषक की विभाषा और गोभम् की विभाषा का परिचय मिलता है जिनकी समानता अशोक के अभिलेखों में पायी जाती है केवल सुरद (<सुरत) का एक अपवाद मिलता है।

प्राकृत का एक अन्य रूप हमें खोतान से प्राप्त खरोष्ठी लिपि का प्राकृत धम्मपद तथा निय प्राकृत में उपलब्ध है। सन् १८९२ ईसवी में फ्रेंच यात्री दुत्वील दरां ने उक्त धम्मपद का संधान किया जिसका प्रकाशन ओल्डेन बर्ग तथा एमिले सेनर ने कराया। इसका एक परिवर्धित संस्करण बेणी माधव बरुआ और शिशिर कुमार मित्र ने सन् १९२१ ईसवी (विक्रमी संबत १९७८) में प्रकाशित किया जिसमें २३२ छंद हैं। इसकी भाषा पालि से भिन्न होने के कारण इसे प्राकृत धम्मपद की भी संज्ञा प्राप्त है। इसका रचना-काल विक्रम की दूसरी शताब्दी होने का अनुमान किया गया है। डा० कत्रे के अनुसार निय प्राकृत का दरदी भाषाओं से विशेष लगाव रहा है। इसलिए दरदी वर्ग की तोखारी भाषा के यह अधिक निकट है।

सर आरेल स्टीन द्वारा खरोष्ठी लिपि में प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथों की भाषा निय प्राकृत के उदाहण हैं। यह निय स्थान में तृतीय शती की शान् राज्य के व्यवहार की भाषा थी जिसकी पर्याप्त समानता अशोक के अभिलेखों के उत्तर पश्चिमी विभाषा में उपलब्ध हैं और उत्तर-पश्चिमी भारत को खरोष्ठी लिपि में प्राप्त भाषा से मिलती-जुलती हैं।

साहित्यिक प्राकृत तत्कालीन बोलचाल की भाषा से अधिक भिन्न नहीं है।

मध्यकालीन प्राकृतिक भाषाओं के विकास में मुंडा तथा द्रविड़ भाषाओं का योगदान लक्षित होता है। यहां ये विजातीय तत्व न केवल शब्द-कोशों के भीतर आये अपितु उन्होंने भारतीय आर्यध्वनि-संघटनों तथा पद-संघटना को भी बहुत-कुछ प्रभावित करना आरंभ कर दिया।

महाराष्ट्री सर्वाधिक परिनिष्ठत प्राकृत है जिसमें प्राकृत की प्रायः सभी काव्य-कृतियां—सेतुबंध और गउडवहो आदि लिखी गई हैं। वैयाकरणों ने इसीलिए इसे अपने विश्लेषण-विवेचन का विषय बनाया है। परंतु प्राकृत भाषा का प्रयोग किसी क्षेत्र-विशेष तक ही सीमित नहीं रहा है, इसलिए इस विषय पर विचार करते समय व्यापक दृष्टि से ध्यान देने की अपेक्षा है। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण (२।१७४) पर जो वार्तिक लिखा है उसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके जीवन-काल में प्राकृत विभाषाएं लोक-व्यवहार की भाषा नहीं रह गई थी।

अपभ्रंश

'अपभ्रंश' शब्द का भाषा के अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग कदाचित छठी शताब्दी में प्राकृत वैयाकरण चंड द्वारा हुआ है[1]। इससे पूर्व पतंजलि ने अपने महाभाष्य में संस्कृत शब्दों के समानार्थी लोक प्रचलित अशुद्ध अथवा असाधु शब्दों को अपभ्रंश बतलाया है। उन्होंने उदाहरणार्थ 'गो' शब्द के निमित्त लोक प्रचलित गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि असाधु शब्दों को अपभ्रंश माना है।[2] प्राकृत वैयाकरण पुरुषोत्तम ने अन्य वैयाकरणों की अपेक्षा अपभ्रंश का सर्व प्रथम विस्तृत विवेचन किया है और अपभ्रंश की तीन मुख्य विशेषताएं स्वीकार की है : नागरक, व्राचडक, तथा उप नागरक। इनके अतिरिक्त उन्होंने स्थानीय रूपों की भी चर्चा की है। 'अमरकोश' के टीकाकार सर्वदानंद ने बारहवीं शताब्दी के धर्मदास कृत

---

१. न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य ।—प्राकृत लक्षणम् ३।३७ ।

२. भूयांसोऽपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दा इति । एकैकास्यहि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्येवमादयोऽभ्रंशाः। महाभाष्यम्–किलहार्न संस्करण, भाग १, पृ० ६।

'विदग्ध मुखमंडन' से अपभ्रंश के पद्यों अथवा पद्यांशों को उद्धृत किया है। उसके अनुसार वह शौरसेनी अपभ्रंश के अंतर्गत हैं। संस्कृत आलंकारिकों में भामह ने सर्वप्रथम अपभ्रंश को भाषा के अर्थ में प्रयोग किया है।[1] फिर दंडी ने चार प्रकार के काव्यों की चर्चा करते हुए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रित भाषा का उल्लेख किया है। मिश्रित भाषा से अभिप्राय उन काव्यों की भाषा से है जिसमें एकाधिक भाषाओं का प्रयोग मिलता है।[2] उन्होंने अपभ्रंश के अंतर्गत आभीरादि की भाषा की गणना करते हुए यह भी कहा है कि उसे काव्य-भाषा की तरह व्यवहार करने पर अपभ्रंश कहना चाहिए। परंतु मार्कंडेय ने आभीरादि की भाषा को विभाषा स्वीकार करते हुए उसकी गणना अपभ्रंश की बोलियों के अंतर्गत की है जिससे पता चलता है कि उन दिनों कुछ लोगों द्वारा अपभ्रंश के सत्ताइस भेद माने जाते थे।

मागधी, पैशाची, महाराष्ट्री और शौरसेनी को प्रायः सभी वैयाकरण प्राकृत की विभाषाएं स्वीकार करते हैं और कतिपय वैयाकरणों ने अपभ्रंश को प्राकृत का एक भेद बतलाया है। परंतु हेमचंद्र ने उपर्युक्त चार विभाषाओं के अतिरिक्त आर्ष, चूलिका, पैशाचिक और अपभ्रंश का भी नामोल्लेख किया है। मार्कंडेय ने प्राकृत भाषाओं के संदर्भ में भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच का नाम गिनाया है। इसी प्रकार नमि साधु ने 'प्राकृतमेवापभ्रंशः' द्वारा अपना मत प्रकट करते हुए भी कुछ लोगों द्वारा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के मानने का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त सभी मतों का विश्लेषण-विवेचन करने के पश्चात पिशेल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अपभ्रश से वैयाकरणों का अभिप्राय लोक प्रचलित भाषा से है। विभिन्न क्षेत्रों की जनता द्वारा भिन्न-भिन्न बोलियों का प्रयोग किया जाता रहा होगा जिस कारण अपभ्रंश के भेदोपभेदों की चर्चा की गई। इन बोलियों के माध्यम से नाटकों का प्रणयन होता

---

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यपद्यं च तद्द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥
—काव्यालंकार १।१६।

२. काव्यादर्श १।३५।

रहा होगा जिसकी पुष्टि नाटयशास्त्र (१७।४६) द्वारा होती है।[1] इसका इंगित लोकनाट्यों की ओर जान पड़ता है जिनका परिचय प्राचीन साहित्यिक संदर्भों, सामग्रियों और परंपरागत रंगमंचों द्वारा आज भी किसी न-किसी रूप में सुलभ है। इस प्रकार अपभ्रंश भी प्राकृत को भांति स्वतंत्र लोकभाषा जान पड़ती है जिसका विकास देश्य भाषा अथवा देशी बोलियों के माध्यम से हुआ होगा।

अवहट्ठ के पर्याय रूप में अवहत्थ, अवहंस और अव्वभंस के प्राचीन प्रयोग मिलते हैं।[2] विद्वानों ने अवहट्ठ को समय-समय पर पिंगल, मैथिल अपभ्रंश और संक्रांतिकालीन भाषा जैसी संज्ञा प्रदान की है। इस शब्द का प्रयोग किसी वैयाकरण द्वारा नहीं हुआ। इसका सबसे पुराना प्रयोग वर्णरत्नाकर (५५ ख) में मिलता है जहां इसको गणना षड्भाषा (छहुभाषा) के अंतर्गत करायी गई है। 'कीर्तिलता' वाला प्रयोग परवर्ती कालीन है। प्राकृत पैंगलम् (गाहा १) और 'संदेश रासक' के प्रयोग इसके बाद के हैं। षड्भाषा के बारे में श्रीकंठ चरित की टीका (अंतिम सर्ग) पृथ्वीराज विजय और काव्यालंकार (२.१) में जो उल्लेख मिलते हैं, 'वर्णरत्नाकर' के उदाहरण से भिन्न नहीं हैं। इस संदर्भ में भाषात्रयी की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित होता है। दंडी, भामह आदि आलंकारिकों ने अपभ्रंश को तृतीय स्थान प्रदान किया है। यही स्थिति वलभी नरेश धारसेन वाले ताम्रपत्र की भी है। विद्यापति और अद्दहमाण के प्रयोग भी अपभ्रंश के लिये ही जान पड़ते हैं। इसमें संदेह नहीं कि अवहट्ठ शब्द परवर्ती कवियों द्वारा प्रयुक्त हुआ है। वंशीधर की संस्कृत टीका में अवहट्ठ शब्द का ही व्यवहार मिलता है। अपभ्रंश अथवा अपभ्रष्ट का नहीं। शिव प्रसाद सिंह के मतानुसार, "अवहट्ठ परवर्ती अपभ्रंश का वह रूप है जिसके मूल में परिनिष्ठित अपभ्रंश यानी शौरसेनी है।"[3]

संस्कृत-भाषा के प्रयोग रूढ़ होने पर लोक प्रचलित भाषा का विकास प्राकृत के रूप में हुआ था जो कालांतर में साहित्य-सर्जन की

---

१. शौरसेनं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके।
अथवा छंदतः कार्यादेश भाषा प्रयोक्तृभः॥

२. शिव प्रसाद सिंह : कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, पृ० ५

३. वही, पृ० ७

रूढ़ भाषा बन गई। उसके परिनिष्ठित रूप के स्थिर हो जाने पर विकास की प्रक्रिया शिथिल पड़ गई और लोक प्रचलित भाषा ने एक नया मोड़ लिया जिसे अपभ्रंश शब्द द्वारा अभिहित किया गया। इसे कभी-कभी देश्य भाषा के प्रयोग द्वारा प्रकट किया जाता रहा। वस्तुतः प्रारंभिक अपभ्रंश मध्य भारतीय आर्यभाषा के तृतीय पर्व की भाषा है और अवहट्ठ नव्य भारतीय आर्यभाषा का पूर्व रूप है। ध्वनि-रचना की दृष्टि से प्राकृत से इसका अधिक अतर नहीं है। पालि और प्राकृत में प्रचलित ध्वनि-परिवर्तन सबधी प्रायः सभी प्रवृत्तियां अपभ्रंश में आकर विकसित हुई हैं। रूप-निर्माण की दृष्टि से अपभ्रंश ने नए सुबंतों तथा तिङंतों की रचना की और लिंग-व्यवस्था स्थिर रूप से नियमित न रह सकी। आत्मने पद का लोप हो गया और परसर्गों के प्रयोग अधिक होने लगे। संयुक्त क्रिया का प्रयोग बढ़ गया और स्वार्थिक 'उ' का प्रयोग-बाहुल्य दृष्टिगोचर होने लगा। इस प्रकार की कई अन्य बातें वैयाकरणों के कौतूहल तथा अध्ययन का विषय बन गई। अपभ्रंश को समृद्ध बनाने का श्रेय बहुत कुछ जैन कवियों और लेखकों को है जिन्होंने अपने मत-प्रचार का इसे माध्यम बना लिया था।

●

अपभ्रंश भाषा में उपलब्ध गद्य के नमूने

पांचवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वैयाकरण व्याडि ने सर्व प्रथम 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किया है और प्राकृत-वैयाकरण पुरुषोत्तम ने अन्य वैयाकरणों की अपेक्षा अपभ्रंश का सर्वप्रथम विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने अपभ्रंश की तीन मुख्य विभाषाएं स्वीकार की हैं: नागरिक, व्राचड़क तथा उपनागरक। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्थानीय रूपों की भी चर्चा की है। 'अमरकोश' के टीकाकार सर्वदानंद ने बारहवीं शताब्दी के धर्मदास कृत 'विदग्ध मुखमंडन' से अपभ्रंश के पद्यों अथवा पद्यांशों को उद्धृत किया है। उसके अनुसार शौरसेनी अपभ्रंश के अंतर्गत है।

संस्कृत भाषा के प्रयोग रूढ़ होने पर लोक प्रचलित भाषा का विकास प्राकृत के रूप में हुआ था जो कालांतर में साहित्य-सर्जन की रूढ़ भाषा बन गई। उसके परिनिष्ठित रूप के स्थिर हो जाने पर विकास की प्रक्रिया शिथिल पड़ गई और लोक प्रचलित भाषा ने एक नया मोड़ लिया जिसे अपभ्रंश शब्द द्वारा अभिहित किया गया। इसे कभी-कभी देश्य भाषा के प्रयोग द्वारा प्रकट किया जाता रहा। वस्तुतः प्रारंभिक अपभ्रंश मध्य भारतीय आर्यभाषा के द्वितीय पर्व की भाषा है और अवहट्ठ नव्य भारतीय आर्यभाषा का पूर्वरूप है जिसका ध्वनि-रचना की दृष्टि से प्राकृत से अधिक अंतर नहीं है। पालि और प्राकृत में प्रचलित ध्वनि-परिवर्तन संबंधी प्रायः सभी प्रवृत्तियां अपभ्रंश में आकर विकसित हुई हैं। रूप-निर्माण की दृष्टि से अपभ्रंश ने नए सुबंतों तथा तिङ्तों की रचना की और लिंग-व्यवस्था स्थिर रूप से नियमित न रह सकी। आत्मने पद का लोप हो गया और परसर्गों के प्रयोग अधिक होने लगे। संयुक्त क्रिया का प्रयोग बढ़ गया और स्वार्थिक 'उ' का प्रयोग-बाहुल्य दृष्टिगोचर होने लगा। इस प्रकार की गई अन्य बातें वैयाकरणों के कौतूहल तथा अध्ययन का विषय बन गई।

संस्कृत और प्राकृत के समान अपभ्रंश में भी गद्य कम ही मात्रा में लिखा गया। किंतु अवहट्ठ के साथ-साथ गद्य-साहित्य का भी विकास होने लगा। 'प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह' में संकलित इक्कीस रचनाओं में से सात गद्य की हैं जिनसे गद्य के विकास-क्रम का परिचय मिलता है। इसी प्रकार 'प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ' की भाषा अवहट्ठ मिश्रित है। कालक्रम के अनुसार विवेचना करने पर हमें सर्वप्रथम उद्योतन सूरि कृत 'कुवलय माला कहा' में गद्य का उदाहरण मिलता है—

"जनार्दन पुच्छह् कत्थ तुझै कल्ल जिमि अल्लया ? तेन मणियउ-साहिडं जैं तेतउ तस्स वलक्खइएल्लयह् तणए जिमि अल्लया।[1] (हे जनार्दन, मैं पूछता हूं तुमने कल कहां जीमा ? उसने उत्तर दिया—वही जो बलक्षविक, उसके यहां।)

(मणिअं चंणेण)—यदि पांडित्येन तताउ मइ परिणेतव्य कुवलयमाल (उसने कहा, यदि पांडित्य का विचार है तो मुझे कुवलयमाला से विवाह करना चाहिए।)

इस वाक्य में 'पांडित्य' और 'परिणेतव्य' संस्कृत शब्द हैं।

यह ग्रंथ सन् ७७८ ईसवी की रचना है। शिक्षित लोगों की बात जाने दीजिए, आठवीं शती में अर्धशिक्षित अथवा अशिक्षित लोगों की भाषा में भी तत्सम शब्दों का प्रयोग आरंभ हो गया था।

'जगत्सुंदरी प्रयोगमाला'[2]—यह तेरहवीं शती का एक वैद्यक ग्रंथ है। इसमें कहीं-कहीं गद्य का प्रयोग है।

'आराधना'—यह ग्रंथ सन् १२७३ ई० में लिखा गया। इसमें प्रयुक्त गद्य का नमूना इस प्रकार है—

"सम्यक्त्व प्रतिपत्ति करहु, अरिहंतु देवता सुसाधु गुरु जिन प्रणीत धर्म्मु सम्यक्त्व दंडकु ऊचरहु, सागार प्रत्याख्यानु ऊचरहु चऊद्दु सरणि पइसरहु।[3]"

'अतिचार'—रचना काल १२८७ ई०। इसके गद्य का उदाहरण इस प्रकार का है—

---

१. अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ. १०४ से उद्धृत।

२. कामता प्रसाद जैन; हिंदी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ. ३०।

३. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, पृ. ८६।

"प्रतिषिद्ध जीव हिंसादिक तणइ करणि कृत्य देवपूजा धर्मानुष्ठान तणइ अकरणि जि जिन वचन तणइ अश्रद्धानि विपरीत परुपण एवं बहु प्रकारि जु कोइ अतीचारु हुयउ[1]।"

सन् १३०१ ईसवी के हस्तलिखित ग्रंथ का उदाहरण प्रस्तुत है—

"पहिलउं त्रिकालु अतीत अनागत वर्तमान बहत्तरि तीर्थंकर सर्वपाप क्षयंकर हउं नमस्कारउं।"[2]

सन् १३१२ ई० के गद्य का नमूना निम्नलिखित है—

"तउ तुम्हि ज्ञानाचार दरिसणाचार चरित्राचार तपाचार वीभिचार पंचविध आचार विषइया अतीचार आलोउ।"[3]

इसके अनंतर 'कीर्तिलता' में गद्य मिलता है। लगभग सन् १३८० ईसवी में लिखे ग्रंथ का गद्यांश यहां उद्धृत है—

"तान्हि करो पुत्रं युवराजन्हि मांझ पवित्र, अगणेय गुण ग्राम प्रतिज्ञा पद पूरणेक परशुराम,....समाचरित चंद्र चूड चरण सेव, समस्त प्रक्रिया विराजमान महाराजाधिराज श्रीमद् वीरसिंह देव[4]।"

अगरचंद नाहटा ने चौदहवीं शती में लिखित एक पुस्तक 'तत्त वियार' (तत्व विचार) नामक ग्रंथ की सूचना दी है।[5] इसके गद्य का उद्धरण इस प्रकार है—

"एउ संसारु असारु। सण भंग रु, अणाइ चउ गईउ। अणोरु अपारु संसारु। अणाइ जीवु। ......तत अति दुर्लभ परमेश्वर सर्व्वशोक्तु धर्म्म।"

नाहटा जी ने चौदहवीं शताब्दी में लिखित 'धनपाल कथा' नामक एक अप्रकाशित ग्रंथ की भी सूचना दी है।[6] इसके गद्य का नमूना देखिए—

---

१. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, पृ. ८८।

२. वही, पृ. ८८।

३ वही, पृ. ९१।

४. सक्सेना संपादित, प्रयाग, वि. सं. १९८६, पृ. १२।

५. राजस्थान भारती, वर्ष ३, अंक ३-४, पृ. ११८-१२०।

६. राजस्थान भारती, वर्ष ३, अंक २, पृ. ९३-६।

"उज्जयिनी नाम नगरी। तहिठे भोजदेवु राजा। तीयहि तणय पंचह सयह पंडितह मांहि मृत्यु धनपाल नामि पंडितु। तीयहिं तणइ धरि अन्यदा कदाचित्त साधु विहरण निमित्तु पइठा। पंडितह णी भार्या त्रीजा दिवसाह णी दधि लेउ उठी।"

नाहटा जी ने 'वीरगाथा काल का जैन साहित्य' शीर्षक अपने लेख[1] में किसी अप्रकाशित रचना का उद्धरण दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यू० पी० हिस्टारिकल क्वार्टली के बारहवें भाग में तरुणप्रभ सूरि की रचना 'दशार्णभद्रकथा' की सूचना दी है जो तत्सम शब्दों के प्रयोग का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

सन् १९२१ ईसवी में लिखित माणिक्य चंद्र सूरि कृत 'पृथ्वीचंद्र चरित्र अथवा वाग्विलास' नामक पुस्तक उपलब्ध हुई है[2] जिसके सानुप्रास गद्य का उदाहरण निम्नलिखित है—

"विस्तरिउ वर्षाकाल, जो पंथी तणउ काल, नाठउ दुकाल। जिणिइ वर्षा कालि मधुर ध्वनि मेह गाजइ, दुर्भिक्ष तणा भय भाजइ, जाणं सुभिक्ष भूपति आवतां जय ढक्का बाजइ।"

'उक्ति व्यक्ति विवृत्ति' का रचना-काल अनिश्चित है। यह बालकों को संस्कृत की शिक्षा देने के लिए लिखी गई है। संस्कृत पदों का अर्थ अपभ्रंश में भी प्राप्त है—

"बोलं बोलतीं। पायं जा पादैन याहि। भूटत आछ मूत्रयंतास्ते ॥ ११ ॥ भोजन कर। देवदत्त कट करिह देवदत्तः कटंकरिष्यति। हउं पव्वंतउं टालउं अहं पर्वतं टालयामि। सबहि उपकारिआ हाउ सवषा-मुपकारी भूयात् ॥ १४ ॥"

इसी के अन्य उद्धरण प्रस्तुत हैं—

"कारूप दुगवस्तु के एते द्वे वस्तुनी ॥ २५ ॥"

छात्र इहां काइ पढ़ काहै का किहका पास काहां क करैं घर छात्रोत्र

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४६, अंक ३, पृ. १९३-२०४।

२. अगरचंद नाहटा : कतिपय वर्णनात्मक राजस्थानी गद्य-ग्रंथ, राजस्थान भारती, भाग ३, अंक ३-४ पृ. ३९-४१।

किं पठति केन कस्मै कुत्र कस्य गृहे ।। ३६ ।। हल्लअ वथु पाणि तरणं लाघुकं वस्तु पानीये प्लवत्तं ।। ४१ ।।"

इसमें शब्द रूप अस्थित हैं। इक स्थान पर 'वस्तु' का प्रयोग हुआ है अन्यत्र 'वथु' का।[1]

इस प्रकार अपभ्रंश में गद्य की अनवच्छिन्न परंपरा मिलती है, किंतु गद्य की मात्रा कम ही है जैसा कि प्रायः प्रत्येक प्राचीन भाषा में है।

१. हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य, पृ. ३७६-८१।

देशज शब्दों की स्थिति

अज्ञात व्युत्पत्ति मूलक शब्दों को 'देशज' शब्द कहा जाता है। पहले इसे भ्रांतिवश तद्भव समझने की प्रवृत्ति रही है। वास्तव में देशज शब्द तद्भव नहीं एक निश्चित संज्ञा है। इस शब्द का प्रयोग यद्यपि प्राचीन है तथापि इसका अध्ययन आधुनिक है। यह विषय शब्द विज्ञान के अंतर्गत आता है जो शब्दों के वर्गीकरण से संबद्ध है। यह वर्गीकरण प्रयोग रूप-रचना, इतिहास-रचना, ध्वनि-प्रभाव आदि कई प्रकार से किया जा सकता है। हमारे यहां प्रायः इन सभी दृष्टियों से विचार करने की परंपरा का प्रचलन रहा है। फिर भी ऐतिहासिक आधार पर प्रचलित परंपरा को ही सर्वोपरि महत्व दिया गया है।

परंतु यह सैद्धांतिक दृष्टि से उतना सरल अथवा सुगम नहीं है जितना व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी। कारण, यदि संस्कृत अथवा विदेशी शब्दों के तद्भव संभव हैं तो देशज शब्दों के भी तद्भव असंभव नहीं हैं। इस बात की भी संभावना हो सकती है कि आधुनिक हिंदी का तद्भव शब्द प्राचीन भाषा में भी तद्भव बन कर किसी भिन्न रूप में प्रयुक्त हुआ हो। इसका एक उदाहरण हिंदी के 'बारह', प्राकृत के 'बारस' और संस्कृत के 'द्वादश' शब्द के प्रयोग में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भाषाओं के ऐसे देशज शब्द जो हिंदी में तद्भव रूप में ग्रहण किये गए हैं उनका भी निर्णय करना आसान नहीं है।

इस प्रकार हिंदी में विभिन्न स्रोतों से आगत शब्दों के वर्गीकरण की भांति देशज शब्दों के भी वर्गीकरण की अपेक्षा होगी। किसी भी देशज शब्द के संबंध में देर-सबेर यह निश्चित रूप से कहना संभव हो सकता है कि उसका स्रोत क्या है अथवा वह कहां से आया है उसके अनुकरणादि का भी ठीक पता इसी प्रकार चल सकता है। आज का अज्ञात व्युत्पत्ति मूलक शब्द किसी दिन ज्ञात व्युत्पत्ति मूलक ठहराया जा सकता है। उदाहरणार्थ, जब तक 'जंजाल' शब्द के स्रोत का पता न था, तब तक उसे देशज शब्द समझा जाता रहा है, किंतु जैसे ही उसके तुर्की स्रोत के शब्द होने का पता चल गया है वह देशज शब्द नहीं रह गया है। ऐसी दशा में हमारे ज्ञान-विस्तार के साथ-साथ इनमें संख्या-

संकोच का आना अवश्यंभावी है। यही कारण है कि ऐसे शब्दों को 'देशज' कहने की अपेक्षा 'अज्ञात स्रोतिक' अथवा 'अज्ञात व्युत्पत्तिक' कहने की परंपरा चल पड़ी है।

इस संदर्भ में एक अन्य बात भी ध्यातव्य है कि देशज के नाम पर प्रचलित अधिकांश शब्द वस्तुतः तद्‌भव हैं जिनमें ध्वनि-परिवर्तन से अंतर आ जाने के कारण उनके तत्सम रूपों को पहचान पाना सब समय संभव नहीं हो पाता। प्रसिद्ध भाषाविद् भोलानाथ तिवारी का यह कथन ठीक ही है कि 'भाषा में जैसे-जैसे विकास होता गया, ध्वनि-परिवर्तन के कारण शब्द का मूल रूप इतना परिवर्तित होता गया कि संस्कृत की तुलना में पालि में और पालि की तुलना में प्राकृत में तथा प्राकृत की तुलना में अपभ्रंश में इन तथाकथित देशजों या अज्ञात व्युत्पत्तिक शब्दों की संख्या बढ़ती गई।''

देशज शब्दों की व्युत्पत्ति विषयक उक्त कठिनाई युग्म शब्दों के योग द्वारा निर्मित संकर-शब्दों के संबंध में भी है। कभी यदि ये दो ज्ञात व्युत्पत्तिक शब्दों के योग से आते हैं तो कभी दोनों के अज्ञात व्युत्पत्तिक होने के कारण। इसी प्रकार कभी दोनों में से एक के ज्ञात और दूसरे के अज्ञात अथवा अज्ञात के साथ ज्ञात का योग होने से संकर-शब्द बन जाते हैं। शब्द-संकरता भाषाई सीमा-विस्तार के साथ वृद्धिशील रहती है। जो हो, अज्ञात व्युत्पत्तिक का अभिप्राय यह कदापि नहीं कि उनका ज्ञात होना सब समय के लिए असंभव है।

'देशज' शब्द के समकक्ष 'देशीमत' का प्रयोग भरत के 'नाट्य शास्त्र (१७-३)' में पाया जाता है। 'देशी नाममाला' में इसी को 'देश्य' या 'देशी' बतलाया गया है और दंडी आदि ने इसे 'देशी प्रसिद्ध' की संज्ञा प्रदान की है। परंतु कभी-कभी देशज के पर्याय शब्दों के प्रयोग भिन्नार्थी भी मिलते हैं। महाराष्ट्री प्राकृत के अर्थ में पादलिप्ताचार्य द्वारा 'देशी वयण' का प्रयोग एक ऐसा ही उदाहरण है। इसी प्रकार पुष्पदंत द्वारा 'देशी' शब्द का प्रयोग अपभ्रंश के लिए किया गया है और विद्यापति ने 'देसिल बयना' का प्रयोग सामान्य जन-भाषा के अर्थ में किया है। इस प्रकार देशज शब्द के परिवार के शब्दों का प्रयोग यदि कभी 'शब्द' के संदर्भ में किया पाया जाता है तो कभी 'भाषा' के अर्थ में।

इस संदर्भ में प्राचीन आचार्यों के 'देशज' संबंधी मत ज्ञातव्य हैं। सर्वप्रथम आचार्य भरत (प्रथम शताब्दी) ने इसे 'देशी मत' की संज्ञा देकर इनके संस्कृतेतर शब्दों के 'समान' अथवा 'विभ्रष्ट' शब्द होने का संकेत दिया है। इसी प्रकार चंड (छठीं शताब्दी) ने संस्कृत तथा प्राकृत से भिन्न शब्दों को 'देशी प्रसिद्ध' कहा है। फिर रुद्रट (नवीं शताब्दी) ने देशज शब्द उन्हें मानने की प्रवृत्ति प्रदर्शित की है जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत के व्याकरणिक नियमों के अनुसार संभव नहीं है। प्राकृत तथा अपभ्रंश के कई वैयाकरणों ने भी देशज शब्दों पर अपना मत व्यक्त किया है। 'देशी नाममाला' के अनेक स्थलों पर हेमचद्र ने अपने पूर्ववर्ती दस कोशकारों से अपना मतैक्य अथवा मतभेद सूचित किया है और उसके (१।३-४) में उन्होंने अपना निजी मत प्रकट किया है—

> "जे लक्खणे ण सिद्ध ण पसिद्धा सक्याहिहाणेसु।
> ण य गउण लक्खणासत्तसंभवा ते इह णिबद्धा॥
> देसविसेसपसिद्धीइ भण्णभाणा अणंतया हुंति।
> तम्हा अणाइपाइ अपयट्टभासविसेसओ देसी॥"

हेमचंद्र ने केवल मध्यदेशीय प्राकृत को ही अपने अध्ययन का विषय बनाया है।

यही नहीं 'देशज' शब्दों के अध्ययन के संबंध में भी अनिश्चय की स्थिति रही है जिसे लक्ष्य कर पिशेल ने लिखा है, "देश्य अथवा देशी वर्ग के भारतीय विद्वान परस्पर विरोधी तत्व सम्मिलित करते हैं। वे इन शब्दों के भीतर ऐसे शब्द रख देते हैं जिनका मूल उनकी समझ से संस्कृत में नहीं मिलता। संस्कृत भाषा के अपने-अपने ज्ञान की सीमा के भीतर या शब्दों की व्युत्पत्ति निकालने में अपनी कम या अधिक चतुराई के हिसाब से 'देश्य' शब्दों के चुनाव में नाना मुनियों के नाना मत हैं। कोई विद्वान एक शब्द को देशी बतलाता है तो दूसरा उसे तत्सम की श्रेणी में रखता है। इस प्रकार देशी शब्दों में ऐसे शब्द आ गए हैं जो संस्कृत मूल तक पहुंचते हैं, किंतु जिनका संस्कृत में कोई ठीक-ठीक अनुरूप शब्द नहीं मिलता।" वे इस प्रसंग में आगे यह भी कहते हैं, "देशी भाषा में कुछ ऐसे सामासिक एवं संधियुक्त शब्द भी रख दिये गए हैं जिनके सब शब्द अलग-अलग तो संस्कृत में मिलते हैं, किंतु सारा संधियुक्त शब्द संस्कृत में नहीं मिलता। देश्य या देशी में वे शब्द भी

शामिल किये गए हैं जो ध्वनि के नियमों की विचित्रता दिखाते हैं। प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, (पृ. १३)। इसी प्रकार रामानुज स्वामी द्वारा संपादित 'देशी नाममाला' की भूमिका (पृ. ४-६) में भी लिखा है, "हेमचंद्र ने भी जाने-अनजाने अपने ही सिद्धांतों का अनेक बार उल्लंघन किया है। उन्होंने कई स्थानों पर केवल इस कारण से कुछ शब्दों को 'देशज' के अंतर्गत रख दिया है कि उनके पूर्ववर्ती लेखकों ने उन्हें देशज माना था।" उन्होंने आगे चल कर और भी कहा है, "अपने द्वारा निर्धारित परिभाषा का पालन न तो हेमचंद्र ने किया है, न उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने ही। इन कोशकारों द्वारा 'देशज' शब्द का प्रयोग अत्यंत व्यापक रूप में किया गया है। 'देशज' के अंतर्गत इन्होंने तत्कालीन प्राकृत बोलियों, जो कि स्थानीय या देशी भाषाएं थीं, के सभी शब्दों को रख दिया है। उदाहरणार्थ धनपाल ने अपनी 'पाइअलच्छी' को 'देशीशास्त्र' कहा है और उसमें (तत्सम, तद्भावादि) सभी प्रकार के शब्दों को भर दिया है।" इस प्रकार किसी वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव में यह घालमेल हो गया है।

हिंदी में 'देशज शब्द' के विद्वान लेखक पूर्ण सिंह डबास ने अपने अध्ययन का निष्कर्ष देते हुए लिखा है, "हिंदी में प्रचलित उन अज्ञात-व्युत्पत्तिक शब्दों का नाम देशज है जिनकी निश्चित व्युत्पत्ति तो अज्ञात है, किंतु संभावना की दृष्टि से जो लोक-व्यवहार में अज्ञात अथवा ध्वनि अनुकरण क आधार पर निर्मित, अत्यधिक विकार के कारण संस्कृत शब्दों में ही न पहचाने जाने वाले रूप, प्रारंभिक प्राकृतों अथवा संस्कृत के ही संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य में अप्रयुक्त शब्द तथा आस्ट्रिक एवं द्रविड आदि अनार्य (आर्येतर) भाषाओं से हो सकते हैं।" वास्तव में हिंदी की प्रमुख प्रवृत्ति' लोकतोऽवगंतव्यता' है। इसी कारण यह लोक-भाषा के निकट है।

नव्य भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण

भारतीय आर्यभाषा के विकास-क्रम की दृष्टि से सन् १००० से १२०० ईसवी तक की अवधि संक्रांति कालीन रही। सन् १००० ईसवी तक काव्य-भाषा के रूप में अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप स्वीकृत हो चुका था। उसके बाद वाली अपभ्रंश रचनाओं में भी वही रूप प्रचलित रहा, यद्यपि बोलचाल की भाषा निरंतर विकासमान रही। अपभ्रंशादि की प्राचीन रूढ़ियों से पृथक होकर नवीन प्रवृत्तियों के ग्रहण द्वारा वह नव्य भारतीय आर्यभाषा के निर्माण का पथ प्रशस्त करती रही। ध्वनि तथा पद-रचना संबंधी अनेक प्रवृत्तियां अपभ्रंश अथवा उसके पूर्ववर्ती काल से ही विकसित होती रहीं। सयोगात्मकता से हट कर वियोगात्मकता की प्रवृत्ति बढ़ रही थी जो नव्य भारतीय आर्यभाषा के रूप में पंद्रहवीं शताब्दी के भीतर पूर्ण रूप से विकसित हो गई। इस प्रवृत्ति को समझने में संक्रांति कालीन कुछ रचानाएं विशेष रूप से सहायक सिद्ध होती हैं। ऐसी रचनाओं में संदेश रासक, प्राकृत पैंगलम्, उक्ति व्यक्ति प्रकरण, वर्ण रत्नाकर आदि के नाम लिये जा सकते हैं। विभिन्न क्षेत्रों में लिखित उक्त रचनाओं में क्षेत्रीय भाषाओं की छाप स्पष्ट है, यद्यपि ये वैभाषिक प्रवृत्तियों का पूर्ण परिचय देने के लिए पर्याप्त नहीं कहला सकतीं।

अपने विकास क्रम में मागधी अपभ्रंश पूर्वी हिंदी, बिहारी, बंगला तथा उड़िया भाषाओं के रूप में महाराष्ट्री अपभ्रंश मराठी, गुजराती और राजस्थानी रूप में, शौरसेनी अपभ्रंश हिंदी (ब्रजभाषा एवं खड़ी-बोली) रूप में और पैशाचिक अपभ्रंश सिंधी तथा पंजाबी के रूप में विकसित हुई। विकास की इस प्रक्रिया में पूर्वी क्षेत्र की भाषाओं की अपेक्षा पश्चिमी क्षेत्र की भाषाओं की गति मंद और मंथर रही जिस कारण पैशाचिक अपभ्रंश के विकशित रूप में मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की कई प्रवृत्तियां प्रायः ज्यों-की-त्यों मिलती हैं। इसके विपरीत मागधी अपभ्रंश के विकसित रूप में म. भा. आ. के

कई परिवर्तित रूप पाये जाते हैं। नव्य भारतीय आर्यभाषाकी प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं :

१. बलात्मक स्वराघात के कारण स्वरों का प्रायः लोप देखने में आता है और अंतिम दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है। कभी-कभी आदि स्वर का लोप भी लक्षित होता है कतिपय स्वरों तथा व्यंजनों के उच्चारण में भी भेद प्रकट होता है। यह विशेषता बंगला और मराठी तक में दिखलायी देती है।

२. समीकरण की प्रवृत्ति के कारण मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा में व्यंजन द्वित्व का आधिक्य पाया जाता है। कालांतर में सिंधी पंजाबी को छोड़ कर शेष में पूर्ववर्ती स्वर के दीर्घीकरण के साथ उनके सरलीकरण की विशेषता दिखायी देती है।

नव्य भारती आर्यभाषा में आकर पदमध्यग और पदांतउअ (ऊअ) तथा इअ (ईअ) का विकास क्रमशः उ और ई के रूप में हुआ है, जैसे बछरू < वत्सरुअ < वत्सरूप, माटी < मट्टिआ < मृत्तिका आदि। इस भाषा में संयुक्त वर्णों के सरलीकरण की प्रवृत्ति का अधिक विकास हुआ है। इसके कुछ उदाहरणों में संयुक्ताक्षरों के सरलीकरण के बावजूद पूर्ववर्ती स्वर का दीर्घीकरण नहीं हुआ है। सिंधी और पंजाबी में सरलीकरण की प्रवृत्ति अविकसित रह गई। नासिक्य व्यंजन ध्वनि का लोप हो गया, यद्यपि सिंधी पंजाबी इस परिवर्तन से अछूती रही। अधिकांश नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में स्वरमध्यग ड, ढ उत्क्षिप्त ड़, ढ़ अथवा कंपित र, र्ह् में विकसित हुए हैं। लुप्त कारकों का बोध कराने के लिए परसर्गों का प्रयोग व्यापक स्तर पर हुआ है। नव्य भारतीय आर्यभाषा में मुख्य रूप से दो ही कारक रह गए हैं : (अ) सामान्य, और (ब) विकारी।

भाषाविदों ने नव्य भारतीय आर्यभाषा का वर्गीकरण विभिन्न रीतियों से किया है। ऐतिहासिक कारणों के आधार पर हार्नली और ग्रियर्सन अंतर्वर्ती तथा बहिर्वर्ती भाषाओं के रूप में वर्गीकरण किया है। हार्नली ने आर्यों के दो बार भारत आने का आधार लिया है। पहली बार आर्यों का दल जब भारत आया तो पंजाब में बसा और दूसरो बार एक अन्य दल काबुल नदी के रास्ते गिलगिट तथा चित्राल होकर मध्यदेश में आ बसा। इस दूसरे दल के आने से पूर्वागत आर्यों को पूरब, दक्षिण तथा पश्चिम दिशा में बढ़ना पड़ा। मध्यदेश की सीमा के अंतर्गत

उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विंध्य पर्वत तक और पश्चिम में सरहिंद से लेकर पूर्व में गंगा-यमुना के संगम तक थी। पहले को यदि केंद्रीय कहा गया तो दूसरा बाहरी कहला कर प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार उपर्युक्त मान्यता के आधार पर ग्रियर्सन ने नव्य भारतीय आर्यभाषा बाहरी मध्यवर्ती और भीतरी उप-शाखाओं के रूप में निम्नलिखित वर्गीकरण किया है :

(अ) बाहरी उप-शाखा :

प्रथम : उत्तर-पश्चिमी वर्ग

१. सिंधी, २—लहंदा

द्वितीय : दक्षिणी वर्ग

३. मराठी

तृतीय : पूर्वी वर्ग

४. बिहारी, ५. बंगला, ६. उड़िया, ७. असमिया

(ब) मध्यवर्ती उप-शाखा :

चतुर्थ : बीच का वर्ग

८. पूर्वी

(स) भीतरी उप-शाखा :

पंचम : केंद्रीय

९. पश्चिमी हिंदी, १०. पंजाबी, ११. गुजराती, १२. भीली, १३. खानदेशी, १४. राजस्थानी

षष्ठ : पहाड़ी

१५. पूर्वी पहाड़ी (नेपाली) १६. मध्य पहाड़ी १७. पश्चिमी पहाड़ी।

अपने वर्गीकरण के समर्थन में ग्रियर्सन ने बहुत से ध्वन्यात्मक और पद-रचनात्मक कारणों उल्लेख किया है। सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने ग्रियर्सन की मान्यता के आधार का खंडन करते हुए नव्य भारतीय आर्यभाषा का भौतिक आधार पर निम्नांकित वर्गीकरण किया :

(क) उदीच्य :

१. सिंधी, २. लहंदा, ३. पूर्वी पंजाबी।

(ख) प्रतीच्य :

४. गुजराती, ५. राजस्थानी

(ग) मध्यदेशीय :

६. पश्चिमी हिंदी

(घ) प्राच्य :

अ–अर्धमागधी प्रसूत

७. पूर्वी हिंदी

ब–मागधी प्रसूत

८. बिहारी, ९. उड़िया, १०. बंगला, ११. असमिया।

(ङ) दाक्षिणात्य :

१२. मराठी।

कश्मीरी तथा पहाड़ी उप-भाषाओं की उत्पत्ति चाटुर्ज्या खस अथवा दरदी भाषा से मानते हैं।

बाहरी और भीतरी शाखा के संबंध में ग्रियर्सन का मत इस प्रकार है :

१. बाहरी उप-शाखा की उत्तरी, पश्चिमी तथा पूर्वी बोलियों में अंत्य –इ, –ए, और (–उ) स्वर-ध्वनियां वर्तमान हैं, किंतु भीतरी या मध्यवर्ती शाखा की पश्चिमी हिंदी में ये स्वर लुप्त हो गए हैं, आछि< आंखि<आंख।

२. बाहरी उप-शाखा की बंगला, उड़िया, असमिया तथा उत्तर-पश्चिमी कतिपय भाषाओं में अपनिहित वर्तमान है जो बाहरी उप-शाखा की विशेषता है।

३. बाहरी उप-शाखा की पूर्वी भाषाओं मुख्यतः बंगला में इ > ए और उ > ओ।

४. बाहरी उप-शाखा की पूर्वी भाषाओं में उ > इ।

५. ऐ अइ, औ अउ बाहरी उप-शाखा को पूर्वी भाषाओं में विकृत ए, ओ के रूप में विकसित हुए हैं।

६. च, ज बाहरी उप-शाखा की पूर्वी भाषा में त्स (स्) तथा द् (ज्) में परिवर्तित हो गए हैं।

७. र् ल् तथा ड, ड के उच्चारण में बाहरी और मध्यवर्ती शाखाओं में भिन्नता देखी जाती है।

८. पूर्वी तथा पश्चिमी भाषाओं द, ड् का परस्पर व्यत्यय देखा जाता है। मध्यदेशीय भाषा में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती।

९. बाहरी उप-शाखा की भाषाओं में म्ब् > म् और भीतरी शाखा में म्ब् > ब्।

१०. स्वर मध्यम र् बाहरी उप-शाखा की भाषाओं में लुप्त हो गया है, किंतु भीतरी उप-शाखा में यह वर्तमान है।

११. बाहरी उप-शाखा में स्वर मध्यम स > इ।

१२. बाहरी उप-शाखा में महाप्राण वर्णों का अल्पप्राण परिवर्तन दिखाई देता है, किंतु भीतरी शाखा की पश्चिमी हिंदी में इसका अभाव है।

१३. द्वित्व व्यंजन के सरलीकरण तथा पूर्ववर्ती स्वर के दीर्घीकरण की प्रवृत्ति के आधार पर भी भीतरी और बाहरी उप-शाखा जैसा वर्गीकरण किया जा सकता है।

आगे चल कर विदेशी और विजातीय शब्दों तथा अभिव्यक्ति-शैलियों ने भाषा और व्याकरण को नया मोड़ देना आरंभ किया जो आधुनिक संदर्भ में पृथक अध्ययन का विषय है।

●

हिंदी भाषा का क्रमिक विकास

हिंदी शब्द अरबी-फ़ारसी भाषाभाषियों द्वारा हिंदू शब्द की भांति प्रयुक्त एक शब्द है जिसका प्रयोग विभिन्न संदर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है। कहीं तो यह संज्ञा के रूप हुआ है और कहीं विशेषण रूप में। संज्ञा रूप में यदि यह भाषा का द्योतक है तो विशेषण रूप में हिंद के निवासी हिंदू का परिचायक। सातवीं शताब्दी को रचना 'निशोथ-चूर्णि' में हिंदू का प्राचीनतम प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार एपि-ग्रेफिआ इंडिका (पृ० ३८) के अनुसार विजय नगर के राजाओं के पंद्रहवीं शताब्दी वाले शिलालेख में हिंदू शब्द का ऐतिहासिक प्रमाण पाया जाता है। परंतु भाषा के संदर्भ में ज़बान-ए-हिंदी का प्रयोग छठो शताब्दी से ही ईरान में होने लगा था। वहां के प्रसिद्ध बादशाह नौशेरवां (सन् ५३१–५७६ ईसवी) ने हकीम बज़रोया को 'पंचतंत्र' का अनुवाद करने के लिए यहां भेजा था। उन्होंने 'कलीला व दिमना' नाम से इसे पहलवी में पूरा किया। इसकी भूमिक ईरान के तत्कालीन वज़ीर बुचर्ज़ मिह्र ने लिखी है जिसमें ज़बान-ए-हिंदी का उल्लेख हुआ है, किंतु यहां पर यह ज़बान हिंदी भाषा न होकर संस्कृत भाषा है। इस अनुवाद के भी कई अनुवाद अरबी गद्य और पद्य में हुए। सातवीं से नवीं शताब्दी तक यह क्रम चलता रहा। अब्दुल्ला इब्नुल मुक़फ्फा, इब्नमक़ना तथा इब्न सुहेल के अनुवाद इसके उदाहरण हैं। सातवीं शताब्दी ज़बान-ए-हिंदी का प्रयोग संस्कृत के अर्थ में हुआ है।

परंतु तेरहवीं शताब्दी में हिंदी का प्रयोग - स्कृत भाषा तक ही सीमित न रह कर मध्यदेशीय सामान्य भाषा के लिए किया जाने लगा। तत्कालीन यात्री मिनहाजुस्सिराज ने (सन् १२२७ ईसवी) करते नासिरा में विहार का अर्थ मदरसा बतलाते हुए ज़बान-ए-हिंदी का उल्लेख किया है। चौदहवीं शताब्दी के एक अन्य यात्री इब्न बतूता (सन् १३३३ ईसवी) ने 'रेहला इब्न बतूता' में कुछ दीवालों पर हिंदी लिखे जाने का वर्णन किया है जो ज़बान के लिए हिंदी का स्वतंत्र प्रयोग है। फिर भी हिंदी का वर्तमान अर्थ में प्रथम प्रयोग पंद्रहवीं शताब्दी के शरफुद्दीन यज़्दी (सन् १४२४ ईसवी) द्वारा लिखित 'ज़फरनामा' में पाया जाता

है जिसमें 'राव' को हिंदी शब्द सूचित किया गया है। यह ग्रंथ तैमूरवंश के बारे में लिखा गया है। भाषा के संदर्भ में किये गए ये सभी प्रयोग विदेशी अथवा विजातीय हैं।

किसी भारतीय ने कदाचित उन दिनों भाषा के संदर्भ हिंदी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है प्रचलित भाषा को भाखा संज्ञा द्वारा अभिहित किया जाता रहा है। इसके अनेक उदाहरण मध्य कालीन हिंदी साहित्य में बिखरे पड़े हैं। प्रस्तुत संदर्भ में कई विद्वानों ने अमीर खुसरो का नामोल्लेख किया है, किंतु वहां पर हिंदी शब्द का प्रयोग भारतीय अथवा भारतीय मुसलमान के लिए हुआ है। यही नहीं, 'खालिकबारी' अमीर खुसरो की रचना न होकर किसी गदा भिखारी खुसरो शाह की रचना है जिसमें 'तुर्की जानी ना' जैसी उक्ति मिलती है जो अमीर खुसरो के लिए असंगत तथा अनुपयुक्त ठहरती हैं। उनके लिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने फ़ारसी के साथ हिंदी में भी चंद नज्में लिखी हैं, किंतु उनकी किसी पुस्तक की प्रामाणिक प्रति में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिससे उक्ति इसकी प्रमाणिकता सिद्ध हो। देवल देवी खिज्रखां में हिंदुई या हिंदुवी शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है, किंतु वहां पर भी हिंदी शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। कई विद्वान हिंदी और हिंदुवी अथवा हिंदवी को समानार्थी बतलाते हैं, किंतु कदाचित वे यह भूल जाते हैं कि हिंदी जहां मुस्लिम निवासी के लिए प्रयुक्त हुआ है, वहां हिंदुवी शौरसेनी से विकसित मध्यदेशीय भाषा के लिए जिसे जायसी ने तुरकी-अरबी के साथ गिनाया है। तुलसी के 'पंचनामे' में भी हिंदवी शब्द का प्रयोग मिलता है। हिंदवी भाषा की संज्ञा हिंदी ने जब ग्रहण करना आरंभ किया तब वह मुसलमानों की भी भाषा बन गई। हिंदी भाषा वास्तव में, हिंदु-मुस्लिम एकता का प्रतीक है।

पंद्रहवीं शताब्दी से ही दक्खिनी हिंदी में हिंदी बोल का उल्लेख पाया जाता है। शाही मीराजी (सन् १४७५ ईसवी) से लेकर जुनूनी (सन् १६९० ईसवी) तक में इसके उदाहरण मिलते हैं। परंतु उत्तरी भारत में हिंदी का भाषा के अर्थ में प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी से बराबर मिलते हैं। खफ़ी खां लिखित 'मुतखबुल्लबाब' से लेकर 'मआसिरुल उमरा' (सन् १७४२-१७४१ ईसवी) तक इसके उदाहरण पाये जाते हैं। इस संदर्भ में नूर मुहम्मद (सन् १७७३ ईसवी) की यह उक्ति विशेषरूप

से उल्लेखनीय है, "हिंदू पग पर पांव न राख्यौ। का जो बहुतै हिंदी भाख्यौ।" हिंदी को ग्रहण करने में मज़हब आड़े न आया।

हिंदो मूलतः प्रयोग की भाषा है। उसे कृत्रिम रूप देने के प्रयास दरबारी वातावरण में आरंभ हुए। यहां पर अठारहवीं के मुरादशाह की कुछ पंक्तियां उद्धृत हैं—

झिझोड़ा फ़ारसी के उस्तख्वां को
किया पुरमग़ज तब हिंदी जबां को
फ़साहत फ़ारसी से जब निकाली
लताफ़ल शेर में हिंदी के डाली।

इसके विपरीत लोक प्रचलित भाषा के लिए हिंदी शब्द का प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी तक होता आया है। गिलक्राइस्ट के समय तक हिंदी शब्द उर्दू और रेखता का समानार्थी रहा है। हातिम से लेकर मीर तक ने अपनी रचनाओं को हिंदी शेर कहा है। फिर भी इसका स्वीकृत भाषाओं की सूची में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अमीर खुसरो की रचना 'नूहसिपर' और अबुल फ़ज़ल कृत 'आईने अकबरी' में किसी देहलवी भाषा का उल्लेख अवश्य पाया जाता है।

हिंदी में जब तक बोलचाल के अरबी-फ़ारसो का प्रयोग होता रहा तब तक उर्दू हिंदी को एक शैली मात्र थी। मुहम्मद हुसन आज़ाद ने 'आबेहयात' में लिखा है, "इतनी बात हरशख्स जानता है कि हमारी ज़बान ब्रजभाखा से निकलो है और ब्रजभाषा खास हिंदुस्तानी ज़बान है।" किंतु जब से अरबी-फ़ारसी के बोझिल शब्दों के व्यवहार प्रयास-पूर्वक किये जाने लगे तब से उर्दू लोक प्रचलित भाषा से विच्छिन्न होकर एक वर्ग को भाषा बन गई और उसे हिंदी से भिन्न भाषा समझने की प्रवृत्ति पायी जाने लगी। अठारहवीं शताब्दो में स्थापित फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता के अध्यापक गिलक्राइस्ट ने अपनी रीति-नीति से इसे और अधिक बढ़ावा दिया। प्रसिद्ध भाषाविद् भोलानाथ तिवारो ने ठीक ही लिखा है, "यदि गिलक्राइस्ट ने मध्यप्रदेश की वास्तविक प्रतिनिधि भाषा को, जो न तो अधिक अरबी-फ़ारसी की ओर झुकी हुई थो, और न संस्कृत की ओर, अपनाया होता तो आज हिंदी-उर्दू नाम को दो भाषाएं न होतीं, और हिंदी भाषा एव उसके साहित्य का नक्शा कुछ और ही होता।

अरबी-फ़ारसी बहुल भाषा ने कृत्रिम रूप धारण कर किया। इस

रूप ने न तो वह हिंदी थी, न उर्दू। इसलिए वह किसी एक की भाषा न थी। फलस्वरूप छद्म नीति के कारण हिन्दुस्तानी कहलाकर प्रसिद्ध हुई। जो वास्तव में प्रयोग की भाषा न होकर प्रयास की भाषा थी। इसकी एक प्रतिक्रिया हिंदी भाषाभाषियों पर यह हुई कि उन्होंने भी संस्कृत शब्द बहुल हिंदी को लिखना आरंभ किया। इस प्रकार वह भी सही अर्थ में जन-संपर्क की वैसी भाषा न रह गई। वहां भी कृत्रिमता किसी सीमा तक प्रवेश पा गई और इसी नए अर्थ में हिंदी भाषा का प्रयोग किया जाने लगा। सन् १८१२ ईसवी में कैप्टन टेलर ने कालेज के वार्षिक विवरण में लिखा है :

"मैं केवल हिंदुस्तानी या रेख्ता का जिक्र कर रहा हूं जो फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है मैं हिंदी का ज़िक्र नहीं कर रहा, जिसकी अपनी लिपि है—जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग नहीं होता और मुसलमानी आक्रमण से पहले भारतवर्ष के समस्त उत्तर-पश्चिम प्रांत की भाषा थी।"

इसके बाद भी बहुत दिनों तक हिंदी और उर्दू के समानर्थी प्रयोग होते रहे। ऐसे उदाहरण गालिब के पत्रों तक में पाये जा सकते हैं। कालेज की प्रेरणा और प्रयास से हिंदी-उर्दू के बीच दरार पड़ गई और कालांतर में दोनों के बीच वह खाई बन कर चौड़ी हो गई। सन् १८२४ ईसवी में विलियम प्राइस ने हिंदी का परिचय संस्कृत-निष्ठ भाषा से दिया और हिंदुस्तानी को अरबी-फ़ारसी बहुल भाषा बतलाया। इससे भी दो क़दम आगे बढ़कर सन् १८२५ ईसवी के वार्षिक अधिवेशन वाले अपने भाषण में लार्ड एमहर्स्ट ने हिंदी को हिंदुओं की भाषा कहा और उर्दू को उनके लिए अंग्रेजी की भांति विदेशी बतलाया। ब्रिटिश शासन की कुटिल नीति के परिणाम स्वरूप हिंदी हिंदुओं की भाषा समझी जाने लगी और उर्दू मुसलमानों की। सन् १८६२ ईसवी में भाषा का प्रश्न शिक्षा संचालकों के सम्मुख उपस्थित हुआ और हिंदी की मनमाने अर्थ में स्वीकृति मिल गई। इस प्रकार शासकों की विभाजक नीति सफल हुई और हिंदी उर्दू परस्पर पूरक भाषा न होकर प्रतिद्वंद्वी बन गई जिनके प्रतीक बने 'भारतेंदु' और 'सितारे हिंद'।

इस प्रकार हिंदी भाषा के विकास-क्रम का काल-विभाजन चार भागों में किया जा सकता है। प्रथम काल में हिंदी का प्रयोग संज्ञा अथवा विशेषण रूप में विदेशियों द्वारा भारतीय भाषाओं अथवा भारतवासियों

के लिए किया जाता था। द्वितीय काल में हिंदूवी अथवा हिंदवी का प्रयोग भारतीय मुसलमानों के संदर्भ में किया जाने लगा था। तृतीय काल में मध्यदेशीय भाषा के लिए दक्षिण में दक्खिनी हिंदी अथवा हिंदवी का प्रयोग होता था। वहां ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहां हिंदवी का प्रयोग कभी-कभी हिंदुओं की भाषा के लिए और हिंदी का प्रयोग दक्खिनी के लिए भी पर्याप्त रूप में किया गया है। इसी प्रकार चतुर्थ काल में फोर्ट विलियम कालेज की नीति के अनुसार हिंदी हिंदुओं की भाषा थी और उसकी लिपि देवनागरी थी।

स्वतंत्र भारत में भी कालेज वाली उपर्युक्त दोहरी नीति पर मुहर लगा दी गई है और हिंदी-उर्दू को पृथक-पृथक भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। स्वतंत्र और समाजवादी सरकार के लिए यह अशोभन एवं अस्वाभाविक है कि वह सामंती तथा उपनिवेशवादी रीति-नीति को अपनाये और उसे बढ़ावा दे। वास्तव में हिंदी प्रयोग की भाषा है, प्रयास की नहीं। इसलिए इसे कृत्रिमता के हटाकर बोलचाल की जन-भाषा के निकट लाना चाहिए और हिंदी उर्दू की विभाजक रेखा को सामंती अवशेषों की भांति संग्रहालय की वस्तु बना देना चाहिए।

हिंदी भाषा का काल-निर्धारण

भारतीय भाषाओं में मध्यदेशीय हिंदी का प्रमुख स्थान होने का कारण उसकी भौगोलिक स्थिति और ऐतहासिक परिस्थितियां हैं। इसके इतिहास का काल-निर्धारण करने में सभी भारतीय भाषाविद् परस्पर सहमत नहीं हैं। हिंदी भाषा के आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल का सीमा-निर्धारण करने में उनका आपस में मतभेद है। श्यामसुंदर दास हिंदी का उद्भव-काल सन् ९९४ ईसवी को मानते हैं, (हिंदी भाषा, पृ. ४१), किंतु धीरेंद्र वर्मा उसका ११वीं शताब्दी से आरंभ होना सूचित करते हैं (हिंदी भाषा का इतिहास, पृ. ४८)। परंतु कामता प्रसाद गुरु इसका आदिकाल १२वीं शताब्दी बतलाते हैं (हिंदी व्याकरण, पृ. १९)। इस प्रकार उक्त तीनों विद्वानों में काल-निर्धारण संबंधी मतैक्य नहीं है।

आदि-काल के सीमा-विस्तार के विषय में भी तीनों विद्वान् एकमत नहीं है। श्यामसुंदर दास यह काल सन् १३१९ ईसवी तक मानने के पक्ष में हैं, (वही, पृ. ४२) किंतु धीरेंद्र वर्मा इसे सन् १५०० ईसवी तक ठहराना चाहते हैं (वही, पृ. ७६)। परंतु कामता प्रसाद गुरु इस सीमा को सन् १६०० ईसवी तक खींच ले जाते हैं (वही, पृ. १९)। यहां भी तीनों विद्वानों में मत-वैभिन्य पाया जाता है।

मध्यकाल-के बारे में भी भिन्न स्थिति नहीं है। श्यामसुंदर दास के विचार से इस काल का विस्तार सन् १३१९ से १९४४ ईसवी तक है (वही, पृ. ४३)। इस अवधि का इन्होंने दो उप-कालों में विभक्त किया है—(१) सन् १३१९ से १६४४ ईसवी तक, और (२) सन १६४४ से १८४४ ईसवी तक। धीरेंद्र वर्मा इस काल की अवधि सन् १५०० से १८०० ईसवी तक बतलाते हैं (वही, पृ. ७६)। परंतु कामता प्रसाद गुरु इसकी सीमा का विस्तार सन् १६०० से १८०० ईसवी तक मानते हैं (वही, पृ. १९)। यहां भी तीनों विद्वानों में मतैक्य का अभाव है।

इसी प्रकार आधुनिक काल का आरंभ धीरेंद्र वर्मा और कामता प्रसाद गुरु सन् १८०० ईसवी मानते हुए भी इसके समाप्ति-काल के बारे में परस्पर सहमत नहीं हैं। वर्मा जी उक्त काल के विस्तार की सीमा का

निर्धारण नहीं करते हैं, किंतु गुरुजी उसे सन् १९०० ईसवी तक ही मानते हैं। परंतु श्यामसुंदर दास उक्त काल का आरंभ सन् १८४४ ईसवी को सूचित करते हुए उसकी सीमा को निर्बल ही रहने देते हैं। यहां पर भी तीनों विद्वानों में मतभेद बना हुआ है।

फलस्वरूप हिंदी भाषा के इतिहास का काल-निर्धारण संबंधी समस्या का समाधान नहीं मिल पाता और प्रश्न जहां का तहां अनुत्तरित रह जाता है। इस समस्या का समाधान हम जन-संपर्क की विभिन्न बोलियों के सहयोग को ध्यान में रखकर ही निकाल सकते हैं। इसके लिए उन ऐतिहासिक परंपराओं एवं परिस्थितियों का ध्यान रखना उचित है जो जनता से जुड़ी हुई है।

हिंदी भाषा का आदि-काल उस समय को मानना चाहिए जब कि अपभ्रंश से नव्य भारतीय भाषाओं का उदय होने लगा था। यह समय लगभग एक हजार वर्ष पूर्व से ऊपर का था जबकि हिंदी भाषाभाषी प्रदेश किसी केंद्रीय सत्ता के अभाव में कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। इस स्थिति से हिंदी भाषी क्षेत्र की कई बोलियों को बढ़ावा मिला और वे हिंदी भाषा का पुष्ट अंग बन गईं।

सातवीं शताब्दी से ही इस्लामधर्मी विदेशी आक्रमणकारियों ने हिंदी-क्षेत्र पर आक्रमण आरंभ किया और बारहवीं शताब्दी के बाद ही इन्होंने पूरे हिंदी भाषी भू-भाग पर अधिकार जमा लिया। ये आक्रमणकारी पश्चिमी द्वार से प्रविष्ट हुए थे। इसलिए वीरगाथा-काल की अधिकांश रचनाओं का निर्माण राजस्थानी बोली डिंगल में हुआ जिसके आधार पर साहित्य-रचना की एक डिंगल-शैली ही चल पड़ी। इस संदर्भ में 'डींग मारना' जैसा मुहाविरा भी विचारणीय है। इससे भिन्न शैली की रचनाएं 'ब्रजभाषा' के निकट की पिंगल बोली में हुई और यह भी काव्य-रचना की एक विशिष्ट शैली बन गई। इस प्रकार डिंगल और पिंगल साहित्य का सर्जन होने लगा जो आज भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इस काल के साहित्य में तत्कालीन सामंती प्रभाव में पली जन-जीवन की भावनाएं तथा आकांक्षाएं मुखर हो उठी हैं।

भारतवर्ष पर जिन मुसलमानों ने अपना आधिपत्य स्थापित किया वे भारत से पूर्व परिचित थे। उनके और हमारे पूर्व पुरुषों के बीच

व्यापारिक एवं सांस्कृतिक संबंध बहुत पहले से ही चला आ रहा था। इसलिए देश की पराजय तथा अरबी-फ़ारसी के राजभाषा-पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी हिंदी भाषा तथा साहित्य के विकास एवं उन्नति में अधिक अंतर नहीं आया। भारतीय सामंती दरबारों में पलने वाले कवि और कलाकार मुस्लिम बादशाहों, सुल्तानों तथा सूबेदारों के दरबारों का आश्रय एवं प्रश्रय पाने लगे।

परंतु हिंदी भाषा का उदय-काल इससे किंचित पहले आठवीं-नवीं शताब्दी के आसपास आरंभ हो चुका था जबकि केंद्रीय सत्ता के शिथिल होने के बाद छोटे-मोटे सामंत अपनी-अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए स्वतंत्र राजा बनने लगे थे। सिद्ध-साहित्य संधि-काल की कृति है। उसकी रचना के पूर्व अथवा आसपास की लगभग यही स्थिति थी। मुस्लिम आक्रमणकारी भारतीय वक्षस्थल पर अपना पैर रखकर भी अभी पूरा-पूरा उसे जमा नहीं पाये थे।

इसलिए वीर गाथा-काल का आरंभ भले ही ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ हो, हिंदी भाषा का आदि-काल इसके पूर्व का ही ठहरता है।

सभी मुस्लिम सुल्तानों तथा बादशाहों की रीति-नीति सब समय एक जैसी नहीं रहा इसलिए विजित जनता अपने जीवन में धूप-छांह का अनुभव करती रही। पलासी युद्ध (सन् १५२६ ईसवी) में दिल्ली की सल्तनत इब्राहीम लोदी के हाथों से निकल कर मुगल वंशज बाबर के हाथों में आ गई। फिर अठारहवीं शताब्दी से ही मुगल शासन का ह्रास आरंभ हो गया और केंद्रीय सत्ता एक बार फिर शिथिल पड़ने लगी। फलस्वरूप देश का खंड-खंड विभाजन पुनः आरंभ हो गया।

यह एक ऐतिहासिक विडंबना है कि जो काल मुस्लिम शासन के उत्थान का था वही हिंदी भाषा के निखार और हिंदी साहित्य के उत्कर्ष का समय रहा। यहां तक कि उस समय का भक्ति-काल हिंदी साहित्य का 'स्वर्ण-युग' कहला कर प्रसिद्ध हुआ। इस काल की रचना में संकट-बोध भले ही हो संत्रास की भावना कदापि नहीं है। एक ओर विजेता जहां अपने उमंग एवं उत्साह में अपने अभ्युत्थान में लगे थे, वहां विजित राजनीतिक पराजय के बाद भी अपना मनोबल न हार कर अपने सांस्कृतिक उत्कर्ष में लगे थे। उदारनीति परायण शासकों का भी उन्हें

प्रश्रय एवं प्रोत्साहन मिला। फलस्वरूप भेदभाव की खाई पतली होती गई और इसमें संतों एवं सूफ़ियों का भी उल्लेखनीय योगदान रहा। इतनी निकटता आ जाने के बाद यह स्वाभाविक था कि ह्रासोन्मुख मुस्लिम शासन के साथ-साथ हमारे सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में गिरावट आती, यही कारण है कि उन दिनों कला, भाषा और साहित्य में बनावट घर कर गई। फलस्वरूप हमारा ध्यान जितना साज-सज्जा में रमा उतना उनकी उन्नति एवं विकास बिंदु पर नहीं जमा। भाषा का आलंकारिक प्रयोग तथा साहित्य का रीति-काव्य इसके ज्वलंत उदाहरण है।

आधुनिक काल का आविर्भाव वैज्ञानिक आविष्कारों तथा उसकी उपलब्धियों के साथ-साथ हुआ। इसी के सहारे ब्रिटिश उपनिवेशवादी फूले, फले और फैले। इनके विस्तृत साम्राज्य के बारे में यह प्रसिद्धि हो गई कि यहां सूर्य कभी अस्त नहीं होता। भारतवर्ष में यह काल उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के आस पास आरंभ होता है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि सन् १८५७ ईसवी में जो विद्रोहाग्नि भड़की उसका केंद्र हिंदी-क्षेत्र ही बना। स्वभावतः उस समय से ही हिंदी स्वतंत्र चेतना का वाहक बनी। नृशंस दमन-चक्र में विद्रोह तो दब गया, किंतु वह कभी शांत न हुआ फलस्वरूप सन् १८८६ ईसवी से ही राजनीतिक चेतना की एक नई लहर का देशव्यापी प्रभाव फैलकर प्रकट हुआ। कांग्रेस की स्थापना का यही समय है। इस बीच नई चेतना के फलस्वरूप कई सुधारवादी आंदोलन भी चल पड़े। इसके बाद एक महायुद्ध के बाद दूसरा विश्वयुद्ध हुआ और उपनिवेशवादी ब्रिटिश साम्राज्य की ऊंची मीनारें हिल उठीं। सन् १९४२ ईसवी की क्रांति और आजाद हिंद फौज के प्रबल प्रहार के परिणाम स्वरूप उक्त हिलती मीनारें टूट-टूट कर ध्वस्त हो गईं। यह काल आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों का है।

औद्योगिक क्षेत्र के परिवर्तनों ने कृषि-क्षेत्र को भी प्रभावित किया। ग्रामीण जनता नए नगरों की चमक-दमक की ओर आकृष्ट हुई और नए-नए नगर अस्तित्व में आने लगे। यहां पर देश और विदेश के पूंजी-पतियों के अपने-अपने स्वार्थ उभर कर सामने आये और भीतर ही भीतर उनमें खींचतान भी शुरू हो गई। देशी पूंजीपतियों ने उपनिवेशवादी

शोषण के अंत में ही अपने स्वार्थ की पूर्ति देखी। फलस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलनों की ओर वे झुके और उनके सहायक बने। उभरते जन-आंदोलनों में जन-भाषा का प्रयोग और प्रचार बढ़ा। जो क्षेत्र जितने जागरूक थे उतने ही राजनीतिक आंदोलनों में प्रभावशाली बने। इसलिए स्वभावत: हिंदी में बोलचाल के शब्दों की भरमार हुई और हिंदी भाषा को राष्ट्रभाषा बनने का गौरव प्राप्त हुआ। गद्य-शैली के विकास का भी यही काल है। खड़ीबोली को इसका प्रतिनिधित्व करने का श्रेय मिला। हिंदी तथा उर्दू की परंपराएं इसी बोली का आश्रय ग्रहण कर अग्रसर हुईं। वर्तमान हिंदी के मूल में खड़ीबोली का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें तत्कालीन प्राय: समस्त साहित्यिक परंपराएं समाहित हुईं। कई कारणों से व्रज भाषा वह स्थान न ले सकी और खड़ीबोली ने व्रजभाषा का स्थान ग्रहण कर लिया। यही समय है जबकि साहित्य की नई विधाओं का सूत्रपात हुआ।

आधुनिक काल के पूर्व का पौराणिक परिवेश धूमिल पड़ने लगा और हिंदी के माध्यम से नए युग का संदेश सुनायी देने लगा। इस युग में समर्थ लेखकों की बाढ़-सी आ गई और उनकी रचनाओं में समसामयिक भारतीय जन-जीवन का चित्रण प्रस्तुत किया जाने लगा। प्रेसों के खुलने और समाचार-पत्रों के प्रकाशित होने का भी यही समय है।

भाषा-आंदोलन का सूत्रपात इसी काल में हुआ और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (स्थापना-काल सन् १८९३ ईसवी) और हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग (स्थापना-काल सन् १९१० ईसवी) जैसी संस्थाएं अस्तित्व में आयीं। इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि नागरी प्रचारिणी सभा ने जहां हिंदी साहित्य के लिए ठोस कार्य किया, वहां हिंदी साहित्य सम्मेलन ने भाषा आंदोलन को विशेष रूप से प्रश्रय दिया। कचहरियों तथा विश्वविद्यालयों में हिंदी के प्रवेश का सूत्रपात इसी समय हुआ।

ब्रिटिश शासकों की शिक्षा-नीति जितनी उनके अपने हित में थी उतनी भारतीय कल्याण-कामना से प्रेरित न थी। यही कारण है कि भारतीय भाषाओं का भेद बना रहा और राष्ट्रभाषा हिंदी को अपनी उन्नति तथा विकास के लिए कठिन एवं कठोर संघर्ष करना पड़ा। अंग्रेजी राजकीय संरक्षण प्राप्त होने पर साधन-सुविधा प्राप्त वर्ग के बीच ही अधिक लोकप्रिय हुई।

हिंदी भाषा के विकास का यह नया दौर आधुनिक काल की एक अपनी विशेषता बन गई। यह काल उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से आरंभ होकर बीसवीं शताब्दी के मध्य तक स्वतंत्रता आंदोलन के साथ-साथ स्वतंत्रता की प्राप्ति तक चलता आया। २६ नवंबर सन् १९५९ ईसवी को भारतीय संसद द्वारा हिंदी को राजभाषा स्वीकार कर लिये जाने पर भाषा-आंदोलन का एक महत्वपूर्ण दौर समाप्त हुआ और हिंदी प्रशासनिक कार्यों के अतिरिक्त वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली की भाषा भी बनने लग गई। भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३५१ के अनुसार, "हिंदी भाषा की प्रसार वृद्धि करना, उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किये बिना हिंदुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात करते हुए तथा जहां आवश्यक और वांछनीय हो वहां उसके शब्द भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः वैसो उल्लिखित भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि करना संघ का कर्तव्य होगा।"

स्वातंत्रोत्तर काल की हिंदी और अधिक समृद्धि हुई है और अपनी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण उसका भविष्य उज्वल एवं आशाप्रद है।

खड़ी बोली और हिंदी

खड़ीबोली शब्द का प्रयोग विभिन्न संदर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया मिलता है। कभी तो इसका प्रयोग मेरठ जिले के समीपवर्ती क्षेत्र की बोली 'कौरवी' के लिए किया जाता है तो कभी हिंदी-उर्दू शब्दों से युक्त हिंदुस्तानी के लिए। फिर कभी यह संस्कृतनिष्ठ हिंदी के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। जो हो, यह प्रयोग सन् १८०३ ईसवी के पूर्व का नहीं है। इसके प्रथम प्रयोग-कर्ताओं में लल्लू जी लाल और उनके समसामयिक लेखक हैं जिनसे प्रमुख रूप से सदल मिश्र और ग्रिल क्राइस्ट के नाम गिनाये जा सकते हैं। मिश्र जी ने इसका प्रयोग 'राम-चरित्र' की हस्तलिखित प्रति में तथा गिलक्राइस्ट ने 'दी ओरियंटल फेबुलिस्ट' और 'दी हिंदी स्टोरी टेलर' में किया है। प्रस्तुत प्रसंग में खड़ी बोली का प्रयोग हिंदी-उर्दू युक्त सरल भाषा के लिए हुआ है।

लल्लूजी लाल और सदल मिश्र ने खड़ी बोली शब्द का प्रयोग 'यामनी भाषा' से मुक्त अथवा 'अरबी-फारसी' से रहित भाषा के लिए किया है। गिलक्राइस्ट के अनुसार यह भाषा हिंदुस्तानी भाषा से भिन्न है। गार्सां द तासी ने खड़ीबोली को खरीबोली (विशुद्ध भाषा) का पर्याय माना है। विदेशी विद्वान प्लैट्स, केलाग तथा इस्टविक ने भी इसी अर्थ में खड़ीबोली का प्रयोग किया है और भारतीय लेखक प्रेमघन, सुधाकर द्विवेदी एवं चंद्रबली पांडेय ने भी 'खरीबोली' के प्रयोग पर बल दिया है। किंतु गुलेरी जी 'पुरानी हिंदी' में प्राचीन काव्य-भाषा को पड़ी बोली और 'मेरठ की पड़ी बोली' को खड़ी बनाकर लश्कर और समाज के लिए उपयोगी बनाने, की चर्चा करते हैं। परंतु कामता प्रसाद गुरु और धीरेंद्र वर्मा ने इसे मधुर भाषा ब्रजभाषा की तुलना में खड़ी (कर्कश) भाषा माना है और बुंदेल खंड में इसे 'ठाड़ी-बोली' या तुर्की कहने की परंपरा भी है। इसी अर्थ में मारवाड़ी लोग इके 'ठांठ बोली' की संज्ञा देते हैं। परंतु किशोरी दास बाजपेयी इसका प्रयोग 'खड़ी पाई' के कारण बतलाते हैं।

इसके विपरीत अब्दुल हक़ जैसे विद्वान् लेखक खड़ी शैली को 'गांववारी या खड़ी बोली' को गंवारू बोली का पर्याय मानते जान

पड़ते हैं। परंतु ग्राहम वेली इसे 'रस्टिक स्पीच' (गंवारू बोली) मानने के पक्ष में नहीं है और इस मत का प्रत्याख्यान भी कहते हैं। वेली इसे अवस्थित, प्रचलित तथा स्थापित का द्योतक शब्द मानते हैं। विश्वनाथ प्रसाद जैसे विद्वान इसे 'स्टैंडर्ड' के 'स्टैंड' के अर्थ में प्रयुक्त टकसाली भाषा बतलाते हैं। जो हो, खड़ीबोली का प्रयोग शुद्ध भाषा के अर्थ में ही हुआ प्रतीत होता है।

खड़ीबोली के मूलाधार को लेकर भी विद्वानों में मतभेद है। बीम्स और ग्रियर्सन जैसे विद्वान इसे कौरवी पर आधारित मानते हैं। परंतु कोलब्रुक इसका आधार कन्नौजी को बतलाते हैं। इससे भिन्न इस्टविक का मत है जिसके अनुसार खड़ीबोली का आधार ब्रजभाषा है। फिर बाल मुकुंद गुप्त इसकी 'जन्मभूमि' दिल्ली को ठहराना चाहते हैं। इसके विप-रीत मसऊद हसन खां इसका संबंध बांगरू से जोड़ते हैं और अन्य कुछ लोग इसे पंजाबी पर आधारित मानते हैं। इस सबसे अलग भोलानाथ तिवारी विभिन्न तर्कों के आधार पर खड़ीबोली को पूर्वी पंजाब, दिल्ली और पश्चिमी उत्तर प्रदेश की बोलियों के मिश्रण का एक परिनिष्ठित रूप स्वीकार करते है जो भाषा विज्ञान-सम्मत भी है। इस प्रकार खड़ी बोली मूलतः एकाधिक भाषा-रूपों पर आधारित है।

हिंदी भाषा के कई समर्थ लेखक खड़ीबोली को 'नई भाषा' कहकर अपना काम चला लेते हैं। भारतेंदु ने 'हिंदी भाषा' में, सितारे हिंद ने 'हिंदी सेलेक्सन', भाग ९ में, ग्रियर्सन ने 'लाल चंद्रिका' को भूमिका में यह मत व्यक्त किया है। परंतु फ्रेज़र तथा नलिनी मोहन सान्याल जैसे लेखक इसे लल्लू जी लाल तथा सदल का आविष्कार सूचित करते हैं। वास्तव में लल्लू जी लाल तथा सदल मिश्र द्वारा प्रयुक्त भाषा नई नहीं है, अपितु उक्त भाषा का नाम नया है। इनके समकालीन सीतलदास की रचनाओं की भाषा भी इससे भिन्न नहीं हैं। इस भाषा का पूर्व प्रच-लित नाम हिंदवी आदि रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि खड़ीबोली मध्यदेशीय कई भाषा-रूपों पर आधारित है। इस कारण उत्पत्ति की दृष्टि से हम इसका संबंध अव-हट्ठ तक से जोड़ सकते हैं। इसका विकास-क्रम इस प्रकार है: आदि-काल (सन् १००० से १५०० ईसवी तक), मध्यकाल (सन् १५०० से १८०० ईसवी तक) और आधुनिक काल (सन् १८०० ईसवी से आगे का

समय)। इसका आदिकालीन रूप गोरख, खुसरी, कबीर, रैदास तथा बंदेनवाज आदि की रचनाओं में प्राप्त हैं। मध्यकालीन के उदाहरण नानक से लेकर प्राणनाथ तक में उपलब्ध हैं। इसी प्रकार आधुनिक काल के नमूने लल्लूजी लाल से लेकर अब तक की रचनाओं में है। आरंभ में खड़ी बोली में एकरूपता का अभाव था, किंतु महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय तक उसका रूप निखर आया और खड़ी बोली सचमुच अपने पैरों पर खड़ी हो गई। वह किसी अन्य बोली को आश्रित न रही। यहीं से उसका परिनिष्ठित रूप प्रकाश में आया और यह हिंदी का पर्याय बन गई।

हिंदी भाषा बनाम खड़ीबोली

भाषाविदों ने भारतीय भाषा के विकास को तीन चरणों में विभक्त किया है : १. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा, २. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा, और ३. नव्य भारतीय आर्यभाषा। हिंदी भाषा का विकास तृतीय चरण में आरंभ हुआ, जहां भाषा अपनी पूर्ववर्ती रूढ़ियों से पृथक होकर नया रूप ग्रहण करने लगी थी। फिर भी पुराने संस्कारों की छाप से सर्वथा असंपृक्त रह कर उसका सर्वथा स्वतंत्र रहना संभव न था। इसे भाषा की शैली, मुहावरे और वाक्य-रचना आदि में यत्र-तत्र किसी-न-किसी रूप में देखा जा सकता है। किसी भी भाषा के विकास के लिए उसकी पूर्ववर्ती ही नहीं, पार्श्ववर्ती और सहवर्ती भाषाओं तक का योगदान अनिवार्य-सा हो जाता है। ग्रहण और पाचन स्वस्थ विकास की प्रेरक प्रक्रियाएं हैं। हिंदी भाषा के साथ भी ऐसा ही हुआ है।

विद्वानों ने ईसा की एक सहस्राब्दी बाद से हिंदी का विकास-काल माना है। इसके प्रारंभिक चार सौ वर्ष को संक्रांति-काल की संज्ञा दी गई है जबकि तत्कालीन जन-भाषा अपभ्रंशादि और नव्य भारतीय आर्यभाषा की मध्यवर्ती स्थिति का परिचय देती है।

संक्रांति कालीन रचनाओं में 'संदेश रासक,' 'वर्णरत्नाकर,' 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण,' 'कीर्तिलता' और 'प्राकृत पैंगलम्' के साथ-साथ रासो तथा फागु काव्यों के नाम भी लिये जाते हैं। फिर भी प्रक्षेप होते रहने के कारण रासो जैसे कुछ ग्रंथों की भाषा को लेकर उनके तत्कालीन होने में संदेह प्रकट किया जाता है। परंतु यही बात हम 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण,' 'संदेश रासक' और 'प्राकृत पैंगलम्' जैसी रचनाओं की भाषा के संबंध में नहीं दुहरा सकते, क्योंकि इनमें प्राकृत और अपभ्रंशादि के उदाहरण भी उपलब्ध हो जाते हैं। रासो और फागु-काव्यों में हमें हिंदी और गुजराती आदि के प्रारंभिक रूप भी दिखाई पड़ते हैं। फिर भी जैन कवियों द्वारा प्रणीत फागु और रासो आदि काव्यों का जितना प्रचलन तथा विकास गुजरात और उसके समीपवर्ती राजस्थान में हुआ उतना मध्यप्रदेशीय हिंदी क्षेत्र में नहीं। इस क्षेत्र में सिद्ध और नाथ साहित्य का ही सृजन हुआ जो नाना कारणों से आज अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है।

भाषाशास्त्रियों ने संक्रांति कालीन भाषा को अवहट्ठ अथवा उत्तर-कालीन अपभ्रंश नाम से अभिहित किया है जिसे पुरानी हिंदी भी कहा गया है। पुरानी हिंदी तीन रूपों में हमें सुलभ है : १. जैन, बौद्ध और पौराणिक काव्य। इस कोटि से हम नाथपंथी साहित्य को भी रख सकते हैं। २. इसमें रास, रासो, रासक और वीर काव्यों की गणना कर सकते हैं, और ३. उक्तिव्यक्ति प्रकरण, वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता और प्राकृत पैंगलम् जैसी रचनाओं के नाम ले सकते हैं। विषय-वस्तु और काव्य-रूपों की दृष्टि से ये रचनाएं बहुत कुछ अपभ्रंश काव्य का अनुसरण करती पाई जाती हैं जिनमें पूर्ववर्ती भाषाओं के तद्भव रूप अधिक उजागर हैं। परंतु इनके साथ ही साथ मध्यदेशीय रचनाओं में यत्र-तत्र विजातीय शब्दों के प्रयोग तथा संस्कृत तत्सम शब्दों के उदाहरण भी देखने में आते हैं। इस प्रवृत्ति को निश्चय ही भक्ति-आंदोलनों और सूफ़ी-साहित्य के प्रचार-प्रसार से प्रेरणा मिली होगी।

भक्ति-आंदोलनों की वेगवती बाढ़ में भक्ति-मार्गों की विभाजक रेखाएं बहुत कुछ धूमिल पड़ गईं और वर्णभेद तथा वर्गभेद को शिथिल पड़ने लगे। तर्क-वितर्क और खंडन-मंडन की शास्त्रीय पद्धति एवं परंपरा से पृथक हट कर यह भक्ति-भावधारा जन-मानस को उत्तेजित तथा आंदोलित करने में सहायक बनी। भक्ति-भावना मूलतः नई नहीं थी, नई थी उसकी लोकोन्मुखी मोड़ जिसने सर्वसाधारण तक को सहज ही आकर्षित कर लिया। इससे चेतना की एक नई लहर दौड़ पडी और जन-मानस में एक नया विश्वास तथा उल्लास घर करने लगा। अब उसके भगवान क्षीर सागर में शयन करनेवाले शेषशायी मात्र न रह कर लोकरंजनकारी और सर्वहितकारी बन गए थे। ऐसी दशा में भगवत्प्राप्ति के लिए किसी क्लिष्ट साधना की अपेक्षा नहीं रह गई थी अपितु भक्ति-भावना की सहज अभिव्यक्ति को ही प्रश्रय मिलने लगा था।

सयोगवश इसी अवधि के भीतर इस्लामधर्मी विदेशी आक्रमण-कारियों ने हमारी दुर्बलताओं से लाभ उठा कर राजनीतिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर ली और शताब्दियों के लिए हम दासता-पाश में आबद्ध हो गए। यह दासता आगे चल कर राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित न रह सकी अपितु तलवारों की छत्रछाया में जो भावधारा प्रवा-हित हुई उसने पुनर्विचार करने का हमें अवसर दिया। सूफ़ीमत द्वारा

प्रचारित प्रेम-चर्चा धार्मिक क्षेत्र के लिए कोई आकस्मिक नई बात न थी, जो बात नई लगी वह उसके लौकिक स्तर पर व्यवहार की जिसके लिए किसी कर्मकांड अथवा शास्त्रीय विधान की अपेक्षा न थी। आवश्यकता थी केवल खुदा में विश्वास रख कर इश्क़ मज़ाज़ी द्वारा इश्क़ हक़ीक़ी तक पहुंचने की। इससे मिलती-जुलती सुविधाएं भागवत-धर्मी भक्ति-मार्ग में भी सुलभ थी किंतु उनके साथ आरंभ से ही अलौकिकता की शर्त थी जिसका वहां पर अभाव-सा था। इसलिए जाने-अनजाने जन-मानस के निकट पहुंचने में कोई वैसी बाधा न थी। यदि कोई बाधा हो सकती थी वह विधर्मी होने के कारण। इसका एक समाधान राधा प्रभावित कृष्ण-भक्ति आंदोलन ने प्रस्तुत किया जिसमें लौकिक तथा अलौकिक तत्वों का अद्‌भुत मिलन लक्षित हुआ। जन हरिदास, रसखान और ताज जैसे भक्त कवि इसी चेतना की उपज थे। इस धारा को प्रबल एवं सशक्त बनाने में आभीर जाति का भी प्रमुख योगदान रहा।

इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि एक ओर जहां बुद्धिजीवी वर्ग के लोग आत्म-निरीक्षण और परिस्थिति-परीक्षण द्वारा पुनर्मूल्यांकन करने की ओर प्रवृत्त हुए, वहां दूसरी ओर जन-सामान्य नवीन भक्ति धारा में निमज्जित हुआ। इसका प्रभाव दोनों वर्गों की अभिव्यक्ति के माध्यमों में लक्षित हुआ। प्रथम वर्ग वाले आचार्य-परंपरा के लोग जहां संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग की ओर उन्मुख हुए, वहां दूसरे वर्ग वालों ने संस्कृत तथा लोकभाषाओं के तद्‌भव शब्दों के व्यवहार के साथ साथ विजातीय शब्दों के रूपों को अपनाने में कोई हिचक अनुभव न की। इस दिशा में साधना मूलक संप्रदायों और भावना मूलक भक्ति-मार्गियों में कोई उल्लेखनीय भेद भाव लक्षित नहीं हुआ।

फलस्वरूप लोकभाषाएं जहां विकसित होती गई, वहां काव्य-भाषाओं के अपने-अपने सीमा-क्षेत्रों में स्तरीकरण होता गया। अवधी यदि राम-काव्यधारा का माध्यम बनी तो ब्रजभाषा का स्रोत कृष्ण-काव्य में जा मिला क्योंकि दोनों की लीला-भूमि की अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषाएं थीं। अवधी में सूफ़ी-काव्य-रचना का आदर्श उपस्थित हो चुका था और ब्रजभाषा को अपभ्रंश से कृष्ण-काव्य की विरासत मिल चुकी थी। श्रीमद्‌भागवत संक्रांति-काल का प्रकाश स्तंभ बन चुका था जिसमें प्रथा और परंपरा तथा अतीत और वर्तमान समाहित था।

हमारे सांस्कृतिक जीवन का यह एक नया मोड़ था जहां संस्कारी चित्त ताजी हवा में सांस लेकर नई स्फूर्ति और चेतना का अनुभव करने लगा था।

परतु अवधी तथा ब्रजभाषा से भी प्राचीन उपलब्ध साहित्य खड़ीबोली का है जिसमें अमीर खुसरो आदि की स्फुट रचनाएं मिलती हैं। इसी का दक्षिणी संस्करण दक़्न अथवा दक्खिनी हिंदी है जिसमें गेसू दराज़ ने अपनी रचनाएं सर्वप्रथम प्रस्तुत कीं। इस धारा का सुप्रसिद्ध कवि निज़ामी है जो बहमनी वंशाय अहमदशाह तृतीय का समकालीन था। दक्खिनी साहित्य के उत्कर्ष के केंद्र बीजापुर का आदिलशाही राज्य और गोलकुंडा का कुतुबशाही राज्य माने जाते हैं। औरंगजेब के शासन काल में दोनों राज्यों का पतन हो गया, किंतु दक्खिनी साहित्य का सृजन अबाध गति से चलता रहा।

खड़ीबोली की उत्पत्ति को लेकर विद्वन्मंडली में मत-भेद रहता आया है। वास्तव में खड़ीबोली साहित्य-रचना से अधिक आंदोलनों की भाषा रहा है। ऐतिहासिक क्रम से खड़ीबोली के क्षेत्र में भी काव्य-भाषा का स्थान ब्रजभाषा ने ही ले रखा था। इसलिए दोनों भाषाओं का मूल स्रोत शौरसेनी अपभ्रंश में ही ढूढ़ा जाने लगा यद्यपि अपभ्रंश और अवहट्ट में खड़ीबोली के पूर्व रूप का कोई परिचय अभी तक नहीं मिल सका है। फलस्वरूप आज भी यह विवादास्पद बना रह गया है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि खड़ीबोली के प्रचार-प्रसार में मुस्लिम शासकों, उनके सहधर्मियों और समर्थकों का प्रश्रय सुलभ रहता आया है। इसलिए उक्त भाषा पर स्वभावतः फ़ारसी-अरबी भाषा की छाप पड़ती आई है। इस प्रकार काव्य-भाषा के रूप में खड़ीबोली का विधिवत प्रयोग दक्खिनी साहित्य से ही आरंभ होता है यद्यपि दक्खिनी बोली का भी वही मूल स्थान है जो खड़ीबोली का है। फिर भी खड़ीबोली तत्कालीन काव्य-भाषा का स्थान ग्रहण न कर सकी और ब्रजभाषा का ही बोलबाला बना रहा, क्योंकि इसका संबंध सांस्कृतिक जन-जीवन से उतना नहीं जुड़ सका था जितना संपर्क-भाषा के रूप में यह व्यवहृत थी।

काव्य-भाषा के रूप में खड़ीबोली का प्रारंभिक प्रयोग उत्तरी भारत के अमीर खुसरो और उनके समकालीन कुछ कवियों द्वारा समझा जाता है, यद्यपि स्वयं खुसरो ने अपने पूर्ववर्ती कवि मसऊद का नाम इस

संदर्भ में लिया है तथापि उनकी रचनाएं उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। कुछ लोगों ने शेखफ़रीदुद्दीन बू अली कलंदर और शेख फ़रीदुद्दीन शकरगंज की रचनाओं में भी खड़ीबोली का मूल सूत्र ढूंढ़ निकाला है जिनके सम-सामयिक बाबा फ़रीद भी रहे हैं। ये सभी किसी-न-किसी वर्ग से संबद्ध हैं। उपर्युक्त रचनाएं बारहवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक की हैं। इस प्रकार के कई उदाहरण हमें भाखा कवियों में भी उपलब्ध है जिनमें नाथों और संतों की रचनाओं की गणना भी की जा सकती है।

परवर्ती भक्ति-साहित्य में खड़ीबोली का जो विन्यास यत्र-तत्र दिखाई देता है वह बढ़ते हुए संपर्क के कारण या तो आकस्मिक है या अनजाने। न. भा. आ. काल में उद्भूत होकर भी खड़ीबोली सांस्कृतिक प्रेरणा के अभाव में दीर्घकाल तक ब्रजभाषा को विधिवत अपदस्थ न कर सकी। सूफ़ी कवियों ने खड़ीबोली की इस दुर्बलता को लक्ष्य करके ही संभवतः अवधी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुना जो ब्रजभाषा से होड़ लेने लगी थी।

रीतिकालीन कवियों द्वारा इस दिशा में सजग प्रयास आरंभ होता दिखाई देता है जो दरबारी वातावरण का परिणाम हो सकता है। इस माध्यम से खड़ीबोली की छाया ब्रजभाषा पर पड़नी आरंभ हुई और उक्त भाषा में स्वतंत्र ग्रंथों तक का प्रणयन होने लगा। उदाहरणार्थं हम रहीम के रेख्ते और घनानंद कृत बिरह-लीला जैसी रचनाओं के नाम ले सकते हैं जिनमें विदेशी बह्रों (छदों) तक के प्रयोग मिल जाते हैं। आलम केलि के रेख्ते भी इसी कोटि की रचनाएं हैं। इस दृष्टि से अठारहवीं शताब्दी के रघुनाथ कवि का हंसनामा, चूहेनामा, आटा-दालनामा तथा गिरहबंद नजीर जैसी रचनाएं भी उल्लेखनीय हैं।

धीरे-धीरे आधुनिक काल की मुख्य भाषा के रूप में खड़ीबोली प्रतिष्ठित हो गई और उन्नीसवीं शताब्दी से यह गद्य की भाषा बन गई जिसके विकसित रूप को हिंदी ने आत्मसात कर लिया।

हिंदी वास्तव में किसी एक ही भाषा अथवा बोली मात्र का नाम नहीं है अपितु एक सामासिक भाषा-परंपरा की संज्ञा है जिसका आकार-प्रकार विभिन्न भाषाओं और बोलियों के ताने-बाने द्वारा निर्मित हुआ है।

• •

उर्दू की उत्पत्ति और विकास

उर्दू भाषा भारतीय है, किंतु उर्दू शब्द अपने आपमें भारतीय नहीं है। इस शब्द की मूल भाषा के संबध में विद्वानों में मतभेद है। अधिकांश विद्वान इसे मूलतः तुर्की भाषा का शब्द मानते आए हैं जिसका अर्थ 'खेमा' अथवा 'शाही शिविर' आदि बतलाया गया है। परंतु प्रसिद्ध भाषाविद् भोलानाथ तिवारी ने ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर इसे चोनी भाषा का शब्द मानने का सुझाव दिया है। इस शब्द का प्रयोग विभिन्न संदर्भों में मूलतः हूण वंशजों में पाया जाता है जो तुर्क, तातार और मंगोल नाम से प्रसिद्ध हैं। हूण शब्द चीनी भाषा का 'शान-यू' से अभिन्न है जिसका पुराना अर्थ लड़ाकू था। ऐसे लोग जो बल-प्रयोग द्वारा राजा बन जाया करते थे उन्हें चीनी भाषा में 'शान-यू' कहा जाने लगा। यही शब्द कालांतर में हूण बन गया। ह्वांगहो नदी के किनारे बसे हूणों के एक कबीले का नाम ओर्दू था जिसके आधार पर उस स्थान का नाम ओर्दुस पड़ गया। चोनी भाषा में ओर्दू का मूल अर्थ 'यायावर' है। यायावरी प्रवृत्ति का होने के कारण इन्हें ओर्दू कहा गया। ईसा को प्रथम शताब्दी में चीनियों ने इन्हें वहां से भगाया और ये हूणों के साथ मंगोलिया के रास्ते मध्य एशिया तक पहुंच गए। ये प्रायः खेमों में रहा करते थे जिस कारण इनके खेमों को भी ओर्दू कहा जाने लगा। पश्तो में ओर्दू 'लश्करी पड़ाव' के अर्थ में प्रयुक्त होता है और प्राचीन उजबेक में आर्दू का अर्थ किला मिलता है। ताशकंद में 'उर्दा' एक मुहल्ला है जहां पहले कभी शाही पड़ाव था। फौजी पड़ावों के साथ-साथ छोटे-मोटे बाजार भी रहा करते थे जिन्हें उर्दू बाजार कहा जाने लगा। बाजारों के ऐसे नाम उत्तरी भारत के दिल्ली, गोरखपुर आदि कई स्थानों में पाये जाते हैं। यह शब्द चीन से मंगोलिया और तुर्की होते हुए बाबर के आगमन के पूर्व ही भारतवर्ष में प्रवेश पा गया था। भाषा के अर्थ में उर्दू शब्द का प्रयोग शाही घराने, फौजी पडाव और उसके बाजार के बीच व्यवहार में आने वाली बोलचाल की भाषा के लिए होने लगा। इस प्रकार उर्दू मूलतः बाजार की बोली ही ठहरती है जिसका प्रयोग भारत-वर्ष में आरंभ हुआ था।

मुग़ल बादशाहों के सिक्कों पर 'उर्दू' शब्द के प्रयोग पाये गए हैं। ऐसे सिक्के शाही पड़ावों पर ढाले जाते थे इसलिए उन पर 'उर्दू' अंकित किया जाता था। बाबर के कुछ सिक्कों पर 'उर्दू' लिखा पाया जाता है और कुछ अकबरी सिक्कों पर भी 'उर्दू' अथवा 'उर्दू-ए-ज़फ़र-क़रीन' लिखा मिलता है। शाहजहां ने इसके अनुकरण पर अपने टकसाल का नामकरण 'उर्दू-ए-जफ़र-करीन' किया था। इसी प्रकार जहांगीर ने दक्षिण के रास्ते जो सिक्के ढलवाये थे उनपर 'उर्दू-दर-राहे दक्कन' का प्रयोग मिलता है। यहां पर 'उर्दू' का प्रयोग भाषा के लिए न होकर 'शाही फौजी पड़ाव' के लिए हुआ है जिस अर्थ में 'उर्दू' शब्द का प्रयोग बहुत पहले ही हुआ करता था। दिल्ली का लाल किला भी आगरा से दिल्ली आने के बाद शाहजहां का शाही पड़ाव ही था जिसे 'उर्दू-ए-मुअल्ला' कहा जाता था।

शाहजहां के समय तक उर्दू भाषा का रूप निखर चुका था जिस कारण इसे 'ज़बान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला' कहा जाता था। इसे कभी-कभी 'शाहजहांनी उर्दू' भी कहा गया है। कालांतर में 'ज़बान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला' ही घिसते-घिसते उर्दू रह गई। बाबर-काल से ही इसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों के बीच कौरवी, बांगरू, पूर्वी, पंजाबी और व्रजभाषा के शब्द प्रवेश पाने लग गए। आगरा से दिल्ली जाते शाही फौज के सिपाही व्रजभाषा के अनेक प्रयोगों को अपने साथ लेते गए। ऐसी भाषा अरबी-फ़ारसी शब्द बाहुल्य के बाद भी दिल्ली पहुंचने के बाद कौरवी व्याकरण द्वारा नियमित एवं नियंत्रित हुई।

क़ुतुबुद्दीन ऐबक ने सन् १२०७ ईसवी में दिल्ली को अपनी राजधानी बनायी थी। उस समय से ही दिल्ली की बोली में अरबी-फ़ारसी के शब्द प्रवेश पाने लगे थे, किन्तु तब तक ऐसी मिली-जुली बोली का नाम उर्दू नहीं पड़ा था। फिर भी सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व ही उसकी भूमिका का आरंभ हो चुका था।

बाबर से शाहजहां के शासन-काल तक में उर्दू के स्वरूप में उभार-निखार आ गया और शाहजहां के शासन-काल के लगभग चालीस-पचास वर्ष बाद इसका व्यवहार काव्य-भाषा के रूप में होने लगा। परंतु तब यह प्रायः उर्दू न कहला कर भाखा या हिंदी कही जाती थी और अरबी-फ़ारसी बहुल भाषा को 'रेख़्ता' कहा जाता था। 'उर्दू' शब्द का प्राचीनतम प्रयोग सन् १७४० ईसवी की रचना 'मआसिरुल

उमरा' में मिलता है। ऐसी दशा में सैयद सुलेमान नदवी साहब का यह कथन सही नहीं है कि "उर्दू का नाम तेहरवीं सदा हिज़री (ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी) में एकाएक आ गया।" इसी प्रकार सैयद एह्तिशाम हुसेन का यह कहना कि अठारहवीं शताब्दी के अंत तक उर्दू नाम भाषा के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, तथ्य से दूर जाता जान पड़ता है। इस संदर्भ में ताराचंद और ग्राहम बेली के मत पर भी पुनर्विचार की अपेक्षा है जिनके अनुसार उर्दू का भाषा के अर्थ में निश्चित प्रयोग सर्वप्रथम मसहफ़ी (मृत्यु सन् १८२४ ईसवी) के इस शेर में आया है :

खुदा रक्खे जबां हमने सुनी है, मीर वो मिरज़ा की,
कहें किस मुंह से हम ऐ मसहफ़ी उर्दू हमारी है।

आरज़ू (सन् १६८७-१७५४ ईसवी) तथा मीर (सन् १७१२-१८१० ईसवी) आदि ने भी अपनी रचनाओं में 'उर्दू' शब्द का प्रयोग किया है।

ग्राहम बैली ने उर्दू को लाहौरी से उत्पन्न माना है और अन्य कुछ विद्वानों ने इसे सिंधी से संबद्ध बतलाया है। इसी प्रकार कई विद्वानों ने इसके मूल स्रोत को दक्खिनी में देखा है और मुहम्मद हसन आज़ाद ने आबेहयात में उर्दू को ब्रजभाखा से निकला स्वीकार किया है। परंतु मीर अम्मन देहलवी ने 'बाग़ो वहार' की भूमिका में लिखा है, "हकीक़त उर्दू की ज़बान की बुजुर्गों में मुंह से यों सुनी है कि दिल्ली शहर हिंदुओं के नज़दीक चौजुगी है। उन्हीं के राजा-प्रजा क़दीम से वहां रहते थे और अपनी-अपनी भाखा बोलते थे। हज़ार बरस से मुसलमानों का अमल हुआ। सुल्तान महमूद गजनवी आया। फिर ग़ोरी और लोदी बादशाह हुए। इस आमदरफ्त के बाइस कुछ ज़बानों ने हिंदू-मुसलमानों की आमेजिश पायी। आखिर अमीर तैमूर ने, जिनके घराने में अब तक नामनिहाद सल्तनत का चला आता है, हिंदोस्तान को लिया। उनके आने और रहने से लश्कर का बाजार शहर में दाखिल हुआ। इस वास्ते शहर का बाजार उर्दू कहलाया। ...जब अकबर बादशाह तख्त पर बैठे तब चारों तरफ के मुल्कों से सब कौम क़दरदानी और फैजरसानी इस खानदान लासानी की सुन कर हुजूर में आकर जमा हुए। लेकिन हर एक की गोयाई और बोली जुदा-जुदा थी। इकट्ठे होने से आपस में लेन-देन, सौदा-सुल्फ, सवाल-

जवाब करते-करते एक ज़बान उर्दू की मुक़र्रर हुई। जब हज़रत शाहजहां साहबे केरान किला मुबारक और जामा मसज़िद और शहर-पनाह तामीर फरमाया।...तब बादशाह ने खुश होकर जश्न फरमायां और शहर को दारुल्खिलाफत बनाया। तब वे शाहजहानाबाद मशहूर हुआ।.. और वहां के शहर उर्दू 'उर्दू-ए-मुअल्ला' खिताब दिया। अमीर तैमूर के अहद से मुहम्मदशाह की बादशाहत तक, बल्कि अहमदशाह और आलमगीर सानी के वक्त तक, पीढ़ी-ब-पीढ़ी सल्तनत एक-सां चली आई। निदान ज़बान उर्दू भी मंजते-मंजते ऐसी मंजी कि किसी शहर की बोली उससे टक्कर नहीं खाती।"

इसी प्रकार इंशाअल्ला खां ने 'दरिया-ए-लताफ़त' में लिखा है, "यहां के खुशबयानों ने मुत्तफिक होकर मुताहिद ज़बानों से अच्छे-अच्छे लफ्ज़ निकाले और वाजी इबारतों और अल्फाज में तसरुफ करके और जबानों से अलग एक नई जबान पैदा की, जिसका नाम 'उर्दू' रक्खा।" यह उक्ति कदाचित बहुत सही नहीं है।

उर्दू भाषा के विकास-क्रम में हिंदी, रेख्ता, हिंदवी और हिंदुस्तानी आदि नामों के प्रयोग हुए हैं। रेख्ता तो अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में उन्नसवीं शताब्दी के मध्य तक उर्दू के पर्याय रूप में प्रचलित रहा है। मीर और गालिब जैसे कवियों ने हिंदी शब्द का व्यवहार उर्दू भाषा के लिए किया है। परंतु अरबी-फ़ारसी बहुल भाषा उर्दू का छद्म नाम हिंदुस्तानी देने का श्रेय फोर्ट विलियम कालेज के उन अध्यापकों को है जो ब्रिटिश शासन की रीति-नीति का उन दिनों प्रतिनिधित्व करते थे। सामंती और उपनिवेशवादी सत्ता की यह देन आज भी भारतीय एकता के लिए प्रश्न-चिह्न बनी हुई है।

द्रविड़-परिवार की भाषाएं और हिंदी

भारतीय भाषा-परिवार की द्रविड़ भाषाएं भी आर्यभाषाओं की भांति भारत-भूमि की उपज हैं। इनकी शब्द-संपदा पर ध्यान देने से पता चलता है कि इनका उद्गम स्थल भी प्रायः एक है। यह बात अलग है कि इनके शब्द-भंडारों में कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो भिन्नार्थी हैं। यह अंतर देश-काल के भेद से भी संभव है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि दोनों वर्ग के लोग ऐसे शब्द-प्रयोगों के अर्थ अपने-अपने संस्कारों के अनुरूप करने लग जाते हैं जो अभिप्रेत अर्थों से भिन्न हुआ करते हैं। इससे एक दूसरे को ठीक-ठीक समझने में बाधा पहुंचती है और कठिनाई होती है। इसलिए ऐसी भूलों से बचने के लिए हमें सही दिशा में परस्पर प्रयास करना चाहिए। ऐसा प्रयास करना राष्ट्र-हित में है और हमारे राष्ट्रीय कर्तव्य का एक आवश्यक अंग है।

द्रविड़-परिवार की भाषाओं की संख्या चौदह गिनायी गई हैं। इनमें से चार भाषाएं तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम अधिक प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि किसी समय दक्षिण भारत में मूल द्रविड़ भाषा 'सेंतमिल' का ही प्रचलन था। उसके कई लक्षण संस्कृत आदि भाषाओं से भिन्न थे, किंतु कोई ग्रंथ उपलब्ध न होने उसका ठीक-ठीक परिचय देना आज संभव नहीं रह गया है। द्रविड़ भाषाओं की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जिनके आधार पर उनका एक ही मूल भाषा से निसृत होना अवश्यंभावी तथा असंदिग्ध जान पड़ता है। ये भाषाएं कब और किन परिस्थितियों में परस्पर पृथक हुई यह बतलाने का कोई ठोस आधार हमारे पास नहीं हैं।

तमिल शब्द का सामान्य अर्थ मिठास है। परंतु कुछ विद्वानों ने इसे 'तेन मोलि' से बना बतलाया है। 'तेन' का एक अर्थ मधुर भी होता है और 'मोलि' का भाषा। इसका भी अभिप्राय मधुर भाषा है। इससे भिन्न तेन का एक अन्य अर्थ दक्षिण है। इस प्रकार तमिल का अर्थ हुआ दक्षिणी भाषा। इस पर संस्कृत का प्रभाव अत्यधिक कम होने के कारण यह भाषा बहुत कुछ स्वतंत्र प्रतीत होती है। इसकी मणिप्रवाल शैली संस्कृत से प्रभावित जान पड़ती है। इसके उपलब्ध

साहित्य से इसकी प्राचीनता और संपन्नता में भी संदेह नहीं रह जाता है। काडवेल ने भी अपनी पुस्तक 'कंपेरेटिव ग्रामर आफ द्रविडियन लैंग्वेज' में इस मत का समर्थन किया है।

तेलुगु भाषाभाषियों की संख्या देश की भाषाओं में दूसरे स्थान पर है। चिलुकूरि नारायण जैसे भाषाविदों ने तेलुगु भाषा को आर्य-भाषा-परिवार का बतलाया है जिसमें संस्कृत से समानता है, किंतु काडवेल तथा रामकृष्णय्या जैसे भाषाविदों ने उसे द्रविड़-परिवार का ही ठहरायां है, क्योंकि इसकी प्रवृत्तियां एवं परंपराएं द्रविड़-भाषा परिवार जैसी हैं। इसका एक अन्य नाम तेनुगु है। कई विद्वानों ने इसका मूल रूप त्रिलिंग या त्रिकलिंग सिद्ध करने का यत्न किया है। इसी त्रिकलिंग से तेनुगु अथवा तेलुगु का विकास माना गया है। एक प्राचीन परंपरा के अनुसार श्रीशैलम्, द्राक्षाराम और कालहस्ती की मध्यवर्ती भूमि त्रिलिंग है। जो हो, ब्राउन जैसे विद्वानों ने तेलुगु भाषा का समकक्ष ठहराते हुए इसकी सराहना की है।

कन्नड को 'कर्नाडु' अथवा कन्नाडु' से उत्पन्न माना गया है। तमिल की पुरानी पुस्तकों में इसे 'करुनाडर' अथवा 'करुनाडन' जैसे शब्दों द्वारा अभिहित किया गया है। कन्नड़ भाषाभाषियों की संख्या लगभग दो करोड़ तक पहुंच चुकी है। कर्नाटक के प्राचीनतम शिलालेख हालिमडि का समय यद्यपि विवादास्पद है तथापि यह कन्नड़ भाषा का प्रथम शिलालेख है। श्री कंठय्या और श्रीमुगलि जैसे भाषाविदों के अनुसार कन्नड़ में लिखित ग्रंथ अथवा शिलालेख पांचवीं-छठीं शताब्दी से पहले के उपलब्ध नहीं हैं। कन्नड़ भाषा और छंद में लिखित बादामी शिलालेख से पता चलता है कि छठी शताब्दी तक यह भाषा निखर चुकी थी। सातवीं शताब्दी का श्रवण बेलुगोला शिलालेख की भाषा पर संस्कृत भाषा का प्रभाव स्पष्ट है उस समय तक यह सरस रचनाओं के लिए उपयुक्त भाषा बन चुकी थी। कन्नड़ भाषा मूलतः द्रविड़-परिवार की होने पर भी संस्कृत-प्राकृत से अधिक प्रभावित है।

मलयालम शब्द का 'मल' पर्वत का द्योतक है और 'आलम' समुद्र का सूचक अर्थात पहाड़ तथा सागर की मध्यवर्ती भूमि। इसीलिए कुछ विद्वानों ने इसे 'मल' और 'अलम' के योग से बना मानते हैं। 'अलम' का एक अर्थ भूमि होता है। इस प्रकार इसका अर्थ पर्वतीय भूमि की भाषा हुआ। कतिपय विद्वान इसे यदि संस्कृत से उत्पन्न मानते हैं तो दूसरे

प्राकृत से प्रभावित। परंतु काडवेल जैसे भाषाविद्र इसे द्रविड़-परिवार की ही भाषा मानते हैं और इसका मूल संबंध तमिल भाषा से जोड़ते हैं। किंतु आय्यर तथा गुंडर्ट जैसे विद्वान इसे तमिल की भगिनी बतलाते हैं। ऐसे विद्वानों का भी अभाव नहीं है जो इसे तमिल तथा संस्कृत भाषा का संगम कहना पसंद करते हैं। परंतु केवल शब्द-बाहुल्य देख कर इसका निर्णय नहीं किया जा सकता है। इसके लिए व्याकरणिक कसौटी का आधार ही समीचीन है। प्राचीन मलयालम पर तमिल का प्रभाव पाकर कुछ विद्वानों ने आठवीं शताब्दो में तमिल भाषा से इसके पृथक होने का अनुमान किया है। संभव है यह भूल द्रविड़ भाषा से उत्पन्न होकर परवर्ती काल में तमिल अथवा संस्कृत भाषा से प्रभावित हुई हो।

द्रविड़-परिवार की चारों भाषाओं में शव्द-संपदा अथवा व्याकरणिक दृष्टि से परस्पर बहुत कुछ साम्य अथवा स्वरैक्य है। फिर भी इस परिवार की तमिल, कन्नड़ और मलयालम भाषाओं के शब्द व्यंजनांत होते हैं, किंतु तेलुगु भाषा के शब्द स्वरांत। इस प्रकार को कुछ अन्य विभिन्नताएं भी हैं जो भाषा से अधिक व्याकरण से संबद्ध हैं।

प्रस्तुत संदर्भ में द्रविड़ भाषाओं और आर्यभाषाओं को कुछ विशेषताओं का यहां उल्लेख करना कदाचित् अप्रासंगिक न होगा। दोनों समूह की भाषाओं की क्रिया-निर्माण-पद्धति एक-सी नहीं है। आर्यभाषाओं में सर्वनाम का उपयोग क्रिया-विशेषण की भांति नहीं होता, किंतु द्रविड़-परिवार की भाषाओं में सर्वनाम का ही व्यवहार क्रिया विभक्ति के स्थान पर किया जाता है। द्रविड़ भाषाओं की तरह आर्यभाषाओं में क्रिया-शब्द का प्रयोग संज्ञा के लिए कभो नहीं होता। परंतु हिंदो की भांति द्रविड़ भाषाओं में भी एकवचन और बहु-वचन का ही व्यवहार होता है, संस्कृत की तरह द्विवचन का नहीं। इसी प्रकार आर्यभाषाओं के तत्सम शब्दों के प्रयोग द्रविड़ भाषाओं में भी ज्यों-के-त्यों होते हैं, किंतु तद्भव शब्दों के व्यवहार के बारे में ऐसा नहीं होता है। उन्हें कुछ अंतर के साथ स्वीकार किया जाता है। परंतु तमिल को छोड़ कर शेष तीनों भाषाओं को संस्कृत तत्सम शब्दों को ग्रहण करते समय संस्कृत वर्णों को भी अपनाना पड़ा है। इस कारण भी तमिल भाषा में संस्कृत भाषा के शब्दों का प्रवेश कम हो पाया है। किट्टल के अनुसार संस्कृत के सैकड़ों शब्द द्रविड़ भाषाओं में घर कर

गए हैं। इसी प्रकार द्रविड़ भाषाओं के कई शब्द आधुनिक हिंदी में अंग्रेजी के माध्यम से भी आ गए हैं।

संस्कृत भाषा में प्राचीन गद्य-काव्यों का आरंभ क्रिया से हुआ करता था। परंतु परवर्ती काल में कदाचित द्रविड़ प्रभाव से कर्ता, कर्म और क्रिया का क्रम चल पड़ा। इसके विपरीत भारोपीय भाषाओं की वाक्य-रचना में कर्ता, क्रिया और कर्म के प्रयोग पाये जाते हैं।

भारतीय आर्यभाषाओं का इतिहास आर्यों के भारत आगमन के साथ आरंभ होता है। ईसा पूर्व पंद्रहवीं शताब्दी तक ये लोग भारत-भूमि पर पदार्पण कर चुके थे। आर्यभाषाओं का काल-विभाजन हम इस प्रकार कर सकते हैं: आदि-काल (ईसा पूर्व १५०० से ५०० तक), मध्यकाल (ईसा पूर्व ५०० से १००० ईसवी तक) और आधुनिक काल (सन् १००० ईसवी) से आगे वर्तमान समय तक। आदिकालीन भाषा का रूप वेदों, ब्राह्मणों और सूत्र-ग्रंथों में सुरक्षित है। ईसा पूर्व ५०० तक के लगभग पाणिनि ने आर्यभाषा को व्याकरणिक संस्कारों द्वारा पूर्ण रूपेण संस्कृत बना दिया। मध्यकाल में संस्कृत और बोलचाल की भाषा के मिश्रण से पालि भाषा अस्तित्व में आयी जिसका प्रयोग बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में हुआ और अशोक के शिलालेखों में प्रयुक्त प्राकृत जैसी भाषा का उपयोग जैन धर्म के विस्तार किया गया। प्राकृत भाषा में साहित्य-रचना के साथ-साथ साहित्येतर विषयों के ग्रंथ भी लिखे गए। कालांतर में इसे भी व्याकरण द्वारा नियमित तथा नियंत्रित कर दिया गया और इनसे युक्त भाषा को अपभ्रंश की संज्ञा दी गई। इसका समय छठी से दसवीं शताब्दी तक का माना गया है। प्राकृत के प्रत्येक रूप के साथ अपभ्रंश का नाम जुड़ गया। फलस्वरूप इन्हें शौरसेनी अपभ्रंश, मागधी अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि के नाम से अभिहित किया जाने लगा। आधुनिक आर्यभाषाएँ इसी अपभ्रंश की उपज हैं। हिंदी भाषा भी इनमें से एक है जो संस्कृतादि शब्द-संपदा से समृद्ध है।

•

भारतीय मिशनरियों की भाषा-नीति

'युरोपीय सुधार' से त्रस्त होकर रोमन कैथलिक अपने प्रचार का नया क्षेत्र ढूंढ़ते भारत पहुंचे। उनके प्रचार का मुख्य उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रसार था। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि ईसाई धर्म सर्वोपरि है और वह संसार के असभ्य, अर्धसभ्य तथा पिछड़े लोगों को सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने में सर्वथा समर्थ है। प्रारंभकालीन 'होम अथारिटीज' ने शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना के प्रति उदासीनता प्रकट की थी। उनकी दृष्टि में शिक्षा-संस्थाओं तथा भारतीय ज्ञानार्जन से पादरियों को विरत ही रहना चाहिए था। परंतु अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया कि धर्म-प्रचार के लिए भारतीय संस्कार तथा मनोवृत्ति से परिचित्त होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। प्रमुख अमेरिकन मिशनरी डी. ओ. एलेन के अनुसार, ईसाई धर्म-ग्रंथों को भलीभांति समझाने के लिए जनता को शिक्षित करना जरूरी है। उन्हें प्रभावित करने के लिए शिक्षा-संस्थाओं की आवश्यकता है, क्योंकि इनके माध्यम से धर्म-प्रचार तथा जन-संपर्क सुगम हो जाता है। फलस्वरूप निःशुल्क शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना का श्रीगणेश हुआ।

किंवदंतियों के अनुसार क्राइस्ट और टामस का भी भारत में पदार्पण हुआ था। रूसी नोटविच ने तिब्बत में पाली भाषा की एक पुस्तक प्राप्त की थी जिसके अनुसार क्राइस्ट ने काशी तथा पुरी में भ्रमण किया था। इसके अतिरिक्त उनका नालंदा में रुक कर छह मास तक शिक्षा प्राप्त करना भी प्रसिद्ध है। टामस का भी ईसा की प्रथम शताब्दी में यहां आकर मालाबार में बसना बतलाया जाता है, जहां अब भी उनके कुछ अनुयायी पाये जाते हैं।

कालांतर में पुर्तगालियों के प्रभाव-वृद्धि के साथ-साथ जेसुइट्स, फ्रांसिस्कन तथा डोमिनिकन आदि रोमन कैथलिक उनके प्रभाव-क्षेत्रों में विस्तार पाने लगे। इनके द्वारा चार प्रकार की संस्थाओं का संचालन हुआ। प्रथम प्रारंभिक शिक्षा के लिए लैटिन संस्थाएं थीं जिनका संबंध गिरजाघरों से था। द्वितीय धर्मशिक्षा के लिए अनाथालय होते थे जहां कृषि तथा उद्योग-धंधा की शिक्षा प्रचलित थी। तृतीय जेसुइट

कालेज थे जहां पर उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी। अंत में चतुर्थ वे संस्थाएं थीं जहां पादरी बनने की शिक्षा दी जाती थी। इनमें से किसी का भी उद्देश्य भारतीय सभ्यता अथवा संस्कृति का अध्ययन करना नहीं था।

सन् १५४२ ईसवी में सेंट फ्रांसिस ज़ेवियर का भारत आगमन हुआ। उन्होंने 'सोसाइटी आफ जीसस' की स्थापना में इग्नाटियस लायला की सहायता की थी। स्थानीय भाषाओं से अनभिज्ञ रहने के कारण वे असफल रहे। अपनी असफलता का रहस्य जान लेने के बाद उन्होंने भारतीय रीति-नीति का अध्ययन कर अपने को भारतीय रूप दे डाला। फिर भी वह सफल न हो सका। असफलता से खीझ कर उन्होंने हिंदू मूर्तियों को नष्ट करने तथा ब्राह्मणों को कठोर दंड देने की प्रार्थना पुर्तगाल सरकार से की। उनके अनुगामियों ने शिक्षा-कार्य के साथ-साथ भारत में छापाखाना खोला जिसके द्वारा सेंट ज़ेवियर की कुछ पुस्तकें छप कर प्रकाशित हुईं। यह घटना लगभग सन् १५५६ ईसवी की है। सन् १५७५ ईसवी में इन्हीं के द्वारा बंबई के पास बांदरा में एक स्कूल स्थापित हुआ जिसका नाम 'दि कालेज आफ सेंट जान' था। यह कालेज उपाधि भी दिया करता था, किंतु बाद में मराठों के भय से उसे सन् १७३९ ईसवी में बंद करना पड़ा। गोवा के कई स्थानों पर शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना हुई जिनमें चोल के समीप का एक जेसुइट कालेज भी था। यहां पर अन्य विषयों के साथ-साथ संगीत, लैटिन तथा पुर्तगाली ग्रामर की शिक्षा देने की भी व्यवस्था थी। परतु भाषा और भावना से अपरिचित रहने के कारण इन्हें धर्म-प्रचार में यथेष्ट सफलता न मिल सकी।

अंग्रेज मिशनरियों में पहले-पहल टामस स्टीवेंस सन् १५७९ ईसवी में भारत आया। इसने यहां की भाषा और संस्कृति की जानकारी प्राप्त करने में अपना अधिक समय लगाया। पुर्तगाली भाषा में कोंकणी भाषा का व्याकरण तथा एक क्रिश्चियन पुराण इसकी रचनाएं हैं।

दक्षिण की भांति उत्तर भारत में भी ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ। जान एल्ड्रेड, जान न्यू बेरी आदि मिशनरियों का कार्य-क्षेत्र उत्तर भारत ही था। सन् १६०० ईसवी में एंटानियो डि एंड्रेड आगरा आये थे। इनका कार्य-काल अकबर और जहांगीर का शासन-काल था। इन्हें उर्दू बोलने का भी अच्छा अभ्यास था। राबर्ट डि नोबिली सन्

१६०५ ईसवी में भारत आकर सन् १६५६ ईसवी तक बना रहा। वह केवल धर्म-परायण ही न था, नीति-निपुण भी था। हिंदू शास्त्रों से परिचित होने के कारण मांसादि का भक्षण नहीं करता था। संन्यासी वेश में रह कर वह ब्राह्मण भृत्य से सेवा-कार्य कराता था। वह मूर्ति-पूजक भी था और ईसा की मूर्ति का रथ में बैठा कर जुलूस भी निकाला करता था। परंतु एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि वह शूद्र जाति से संपर्क नहीं रखता था।

प्रोटेस्टेंट धर्म-प्रचारक अंग्रेजों के साथ ही भारत आये। सूरत और मसुलीपट्टम में फैक्टरियां स्थापित होने के बाद सन् १४१२-२३ ईसवी के बीच कंपनी की ओर से ईसाई धर्म-प्रचारक भी आने लगे। सन् १६१४ ईसवी में भारतीय धर्म-प्रचारकों की भर्ती की गई। ऐसे ही भारतीयों में से एक शिक्षा प्राप्त करने इंगलैंड गया। उसका व्यय-भार कंपनी ने उठाया।

अंग्रेज मिशनरियों ने अधिक समझदारी से काम लिया और भारतीय संस्कृति के साथ-साथ भाषा के अध्ययन की ओर भी ध्यान दिया। कंपनी भी अपने व्यावसायिक हित में इसे प्रश्रय तथा प्रोत्साहन देने लगी। कंपनी-चार्टर के आधार पर सन् १६९३ ईसवी से धर्म-प्रचार के लिए पादरी अध्यापकों की नियुक्ति फैक्टरियों में की जाने लगी जिनके लिए देशी भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य था। अठारहवीं शताब्दी का आरंभ होते-होते विविध क्षेत्रों में अनुदान पर चलने वाली शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना होने लगी। इनमें केवल विदेशी बच्चों को ही नहीं पढ़ाया जाता था। उनके साथ-साथ भारतीय बालक भी पढ़ सकते थे। सन् १८३१ ईसवी में 'सोसाइटी फार प्रोमोटिंग क्रिश्चियन नालेज' जैसी संस्था की स्थापना कलकत्ता में हुई।

सन् १७०६ ईसवी में दो जर्मन प्रोटेस्टेंट पुलस्चू और जीगेन बाल्ग भारतीय छात्रों को पढ़ाने के लिए तंजोर भेजे गए। इन दोनों ने यहाँ आकर तमिल भाषा सीख ली और उसी भाषा में 'न्यू टेस्टामेंट' का अनुवाद कर डाला। सन् १७११ ईसवी में पुलस्चू युराप चला गया इसने बाइबिल का हिंदी अनुवाद किया था। यह जर्मनी जाते समय अपने साथ त्रिमूर्ति नामक एक भारतीय को भी लेता गया। सन् १७१२ ईसवी में जीगेन बाल्ग द्वारा तमिल प्रेस खोला गया। सन् १७४०-४६ ईसवी में बिहार में बेतिया के पास एक चर्च मिशन स्थापित हुआ।

इसके बाद सन् १७७० ईसवी में एक अन्य मिशन चुहारी में काम करने लगा।

'बिल्बरफोर्स ऐक्ट' बन जाने पर ईसाई धर्म-प्रचारकों का काम उत्तरी भारत में जोर पकड़ गया। पटना, काशी, मिर्जापुर, आगरा, मेरठ, दिल्ली आदि स्थानों में उनका जाल फैल गया। शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना प्राय: सभी प्रमुख नगरों में होने लगी। परंतु रोमन कैथलिक अपनी रीति-नीति के कारण उतने सफल न हो सके।

सन् १७९३ ईसवी से देशी भाषाओं का अध्ययम विलियम केरे ने आरंभ कर दिया था वह खड़ीबोली का पक्षपाती था। उसने श्रीरामपुर में अपना प्रेस खोल कर देशी भाषाओं में धार्मिक पुस्तकें प्रकाशित करना प्रारंभ किया। इनमें हिंदी भाषा में लिखी कई पुस्तकें थीं। इनमें से सन् १८०७-११ ईसवी में न्यू टेस्टामेंट और सन् १८१८ ईसवी में ओल्ड टेस्टामेंट के कई खंड प्रकाशित हुए। सन् १८०५ ईसवी में बाइबिल का हिंदी अनुवाद फोर्ट विलियम कालेज में पूरा हुआ। इस प्रसंग में ब्र. ---, हंटर और कोलब्रुक आदि के नाम उल्लेखनीय है। मूर के प्रयास के सन् १८०९ ईसवी में बिहार के दीघा नामक स्थान में एक चर्च मिशन खोला गया जिसका मुख्य उद्देश्य हिंदी में पुस्तकें छाप कर प्रचार करना था। सन् १८११ ईसवी में अपना इस्लाम धर्म परिवर्तित कर अब्दुल मसीह ने आगरा के निकट सिकंदरा में मिशन चलाना आरंभ किया। श्रीरामपुर मिशन के बाउले चुनार में रह कर हिंदी के प्रचार में रत रहे। हिंदी के प्रचारकों में होर्नली और विलियम स्मिथ आदि के नाम स्मरणीय हैं। हेनरी मार्टिन ने पहले सन् १८१४ ईसवी में 'न्यू टेस्टामेंट' का उर्दू संस्करण श्रीरामपुर से प्रकाशित कराया। फिर सन् १८१७ ईसवी में उसे नागराक्षर में निकाला। सन् १८१९ ईसवी में 'आक्जिलियरी बाइबिल सोसाइटी, कलकत्ता से हिंदी में तीन सुसमाचार— लुक, मरकज और प्रकाशित हुए।

'कलकत्ता क्रिश्चियन ट्रैक्ट ऐंड बुक सोसाइटी' की स्थापना सन् १८२२ ईसवी में हुई। इसने अपना प्रचार-कार्य हिंदी के माध्यम से चलाया और पुस्तकें भी प्रकाशित की। सन् १८२९ ईसवी में 'मंगल समाचार' और 'न्यू टेस्टामेंट' चर्च मिशन प्रेस से प्रकाशित हुए। 'लंदन मिशनरी सोसाइटी' की ओर से टामसन ऐडम सन् १८२९ ईसवी में काशी भेजे गए जो हिंदी भाषा से सुपरिचित थे। इनका हिंदी व्याकरण

और हिंदी-अंग्रेजी कोश प्रसिद्ध है। केनेडी के भी काशी आने का यही समय है। इन्होंने हिंदी सीख कर शिक्षा-प्रसार में सहायता पहुँचाई। इसके दस वर्ष बाद सन् १८३९ ईसवी में अमेरिकन प्रेसीबिटेरियन प्रेस, इलाहाबाद में स्थापित हुआ जो हिंदी में ही काम करता रहा। इसी प्रकार मुंगेर में ईसाई धर्म का प्रचार करने के बाद सन् १८४६ ईसवी में लेसली ने मुजफ्फरपुर में हिंदी प्रेस की स्थापना की, जहाँ से सन् १८४९ ईसवी में 'न्यू टेस्टामेंट' का हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुआ। हिंदी का प्रचार करने वालों में रूहेलखंड की 'अमेरिकन एपिसकोपल मेथाडिस्ट चर्च' थी जिसका प्रसार सन् १८५७ ईसवी में गढ़वाल तक था।

सन् १८५७ ईसवी के बाद भारतीय मिशनरियों ने हिंदी-गद्य-निर्माण के साथ-साथ हिंदी-पद्य-रचना में भी रुचि ली। इनकी हिंदी-सेवा का साहित्यिक मूल्य भले ही अधिक न हो, किंतु हिंदी भाषा के प्रचार में इनके सक्रिम सहयोग का महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता जो आज तक निरंतर मिलता आ रहा है।

मिशनरियों की हिंदी-प्रियता

हिंदी का विकास राष्ट्रीय चेतना के विकास-क्रम से संबद्ध है। इसलिए किसी भी भारतीय ने उससे अपनापन अनुभव किया है और जाने-अनजाने उसकी उन्नति में योगदान दिया है। उसका राष्ट्रीय स्वरूप इस दिशा में उसके लि० सहायक सिद्ध हुआ है। इसमें भौगोलिक स्थितियों एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों ने भी उसे पर्याप्त प्रश्रय प्रदान किया है। यही कारण है कि हिंदी-परिवार में हम सभी का प्रतिनिधित्व पाते हैं। फलस्वरूप हिंदी के अध्ययन में विदेशियों तक ने रुचि ली है और इसके प्रचार-प्रसार में अपना हाथ बंटाया है।

भारतीय ईसाई मिशनरियों ने न केवल अपने धर्म-मत के प्रचार-प्रसार में हिंदी की सहायता ली है अपितु उसके बहुविध साहित्य-भंडार को समृद्ध बनाने की दिशा में भी निष्ठापूर्वक कार्य किया है। यही नहीं, इन्होंने न केवल इतिहास, शब्दकोश, भाषा-व्याकरण तथा पाठ्य पुस्तकें ही प्रस्तुत की हैं अपितु सर्जनात्मक साहित्य के निर्माण में भी अपनी प्रतिभा का सुंदर परिचय दिया है। इसी प्रकार इन्होंने न केवल पुस्तकों का ही प्रणयन किया है अपितु उनके मुद्रण-प्रकाशन की स्वयं व्यवस्था कर अपने अदम्य उत्साह का परिचय दिया है। ईसाई मिशनरियों की प्रेरणा से ही तत्कालीन कंपनी के अधिकारियों को अपनी भाषा-नीति में आवश्यक संशोधन करना पड़ा और कालांतर में ब्रिटिश अधिकारी भी तदनुसार नीति-परिवर्तन करने के लिए बाध्य हुए। इस प्रकार ईसाई मिशनरियों की हिंदी-सेवा का निश्चित मूल्य एवं महत्व है। इस दृष्टि से इसका परिचय रोचक तथा ज्ञान-वर्धक हो सकता है।

मिशनरियों ने एक ओर जहां हिंदी भाषा के प्रचार-क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया, वहां गद्य-शैली के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसका यथोचित मूल्यांकन करने के लिए यद्यपि आज पूरी सामग्री उपलब्ध नहीं है तथापि जो कुछ सुलभ है उससे इसका अनुमान करना सर्वथा संभव है। फोर्ट विलियम कालेज वालों ने तो

व्यवस्थित कार्य किया ही, मिशनरियों ने भी बाइबिल के हिंदी अनुवाद द्वारा हिंदो लिखने-पढ़ने की रुचि उत्पन्न की।

ईसाई धर्म-प्रचारकों के सक्रिय होने के पूर्व हिंदो साहित्यकार अधिकतर वीर तथा भक्ति-काव्य की रचनाओं और रीति-नीति विषयक अभिव्यक्तियों में ही रुचि-रस लेता रहा। बहुधा पौराणिक अथवा लौकिक आख्यानों का आश्रय लेकर साहित्य-रचना होती रही। परंतु ईसाई कवि तथा लेखकों ने साहित्य-क्षेत्र की सीमा का विस्तार किया और साहित्येतर विषयों पर भी लिखना आरंभ कर दिया। प्रेसों की स्थापना और समाचार-पत्रों क प्रकाशन का भी यही समय है शिक्षा के क्षेत्र में भी इसी समय क्रांतिकारी बोज का वपन हुआ। ईसाई धर्म-प्रचार का एक प्रभाव यह भी हुआ कि लोगों ने नए सिरे से अपने बारे में सोचना आरभ कर दिया। इस प्रकार यह दृष्टि-परिवर्तन का युग कहला सकता है। निश्चय ही इसमें वैज्ञानिक आविष्कार की उपलब्धियों की प्रेरणा ही सक्रिय रही है। परिणाम स्वरूप सुधार-आंदोलनों का सूत्रपात हुआ और सर्वत्र जागृति की किरण फैल गई।

सन् १७९३ ईसवी में विलियम केरे ने अपने सहयोगियों सहित कलकत्ता में आकर प्रचार-केंद्र की स्थापना की। इनके अन्य सहयोगियों में वार्ड तथा मार्शमन थे। इनकी धर्म-प्रचार की योजना महत्वाकांक्षा पूर्ण थी। देशी भाषाओं के सहारे ये संपूर्ण उत्तरी भारत को धर्मांतरित करना चाहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बारह प्रचार-केंद्र खोले गए थे। सन् १८२१ ईसवी में श्रीरामपुर कालेज की स्थापना कर ये लोग आश्रम का जीवन व्यतीत करते थे। केरे ने बंगला भाषा को अपने प्रचार का माध्यम चुना और हेनरी मार्टिन ने अरबी-फ़ारसी तथा हिंदुस्तानी को अपना माध्यम बनाया। वह जन-संपर्क बढ़ाने में बड़ा कुशल था। उन दिनों धर्म-परिवर्तन की दो प्रणालियों का प्रचलन था। एक के अनुसार सामुहिक मत-परिवर्तन किया जाता था और दूसरे के द्वारा शिक्षा प्रचार के माध्यम से धर्मांतरण की व्यवस्था थी। 'अवध अखबार' के अनुसार नैतिक अथवा धार्मिक शिक्षा के अभाव में हमारे युवक समुदाय द्वारा ईसाई धर्म स्वीकार किये जाने की संभावना बढ़ने लगी थी। इनसे भिन्न अस्पतालों के माध्यम से निःशुल्क औषधि वितरण करने की व्यवस्था अपने प्रति सहानुभूति जागृत करने का प्रभावकारी साधन समझी जाती थी। कलकत्ता में डफ़ द्वारा की गई सेवा की तुलना बंबई

के जान विल्सन तथा मद्रास के जान एंडरसन की सेवाओं से की जा सकती है।

अंग्रेज शासक यद्यपि जन-संपर्क से दूर रहते थे तथापि उसकी क्षति-पूर्ति ईसाई मिशनरी किया करते थे। इसके लिए उन्हें लोक प्रचलित भाषाओं का आश्रय लेना आवश्यक प्रतीत हुआ। इसलिए उन्होंने क्षेत्रीय भाषाओं का शिक्षण-प्रशिक्षण पूरे मनोयोग के साथ आरंभ किया। सन् १८१३ ईसवी से ही कंपनी प्रशासन ईसाइयों के प्रति उदार नीति बरतने लगा।

ईसाई मिशनरियों ने सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्यों में भी रुचि लेना आरंभ किया। इस संदर्भ में आगरे के थाम्सन तथा उनके सह-योगियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सर विलियम म्योर तथा जान म्योर दोनों ही भाई संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। मिशनरी हिंदुओं की कुरीतियों एवं कुप्रथाओं की तुलना में अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास किया करते थे। इस प्रकार हिंदु-समाज की विकृतियों पर ही उनका ध्यान केंद्रित था।

शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ पाठ्यपुस्तकों की आवश्य-कताएं बढ़ती गईं और हिंदी के माध्यम से उनकी बाढ़ आ गई। इस प्रवृत्ति ने हिंदी गद्य-शैली के विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया। विविध विषयों की पुस्तकें तैयार की जाने लगीं और हिंदी ने सर्वत्र अपने को सक्षम सिद्ध किया। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में वह कहीं भी पिछड़ी नहीं। स्कूलों में के लिए पाठ्यपुस्तकों का मुद्रण करने का महत्वपूर्ण कार्य कलकत्ता स्कूल सोसाइटी और कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी ने किया। इन प्रकाशनों से तत्कालीन शिक्षा की दिशा तथा साहित्यिक प्रगति का एक सामान्य परिचय मिल जाता है। इसके अति-रिक्त जन-संपर्क के लिए गद्य-शैली का उपयोग हिंदी भाषा के विकास में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ।

ईसाइयों द्वारा प्रयुक्त भाषा को देखने से यह पता चलते देर नहीं लगती कि तत्कालीन समाज में हिंदी अधिक लोकप्रिय थी या उर्दू। गिलक्राइस्ट द्वारा पोषित भाषा जन-संपर्क की भाषा नहीं बन सकती थी। इसलिए ईसाई लेखकों ने सदासुख, लल्लू जी लाल तथा सदल मिश्र द्वारा व्यवहृत भाषा को ही अपनाने की चेष्टा की। कथा-पुराण कहने-सुनने की ठेठ भाषा ही उनके लिए उपयुक्त एवं उपयोगी थी।

सन् १८७७-१८७८ ईसवी में मेथाडिस्ट मिशन प्रेस, लखनऊ द्वारा प्रकाशित पुस्तकें भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। यह मिशन प्रेस अमेरिकन था। यहां पर उक्त भाषा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"जब मैंने अपनी आंख उठाई और पृथिवी की सुंदरता को देखा तो एक महा अधकार को छोड़ जो कि पृथिवी के ऊपर छाय रहा था और कुछ दृष्टि में न आया।" मिशनरियों ने यद्यपि शब्द-कथन में लोक प्रचलित प्रयोग का अधिक ध्यान रखा है तथापि उनकी प्रतिपादन-शैली स्वभावतः शिथिल तथा अपरिपक्व है।

मिशनरियों ने अपने सहयोगियों को जीवनियां भी लिखी हैं जिनका मुद्रण भिन्न-भिन्न प्रेसों में हुआ है। ऐसे प्रेसों में लखनऊ का अमेरिकन मिशन प्रेस तथा क्रिश्चयन एजुकेशन सोसाइटी, इलाहाबाद की क्रिश्चियन लिट्रेरी सोसाइटी, बाइब्रिल ट्रांसलेशन सोसाइटी, नार्थ इंडिया क्रिश्चियन टैक्ट ऐंड बुक सोसाइटी जैसी संस्थाओं के नाम गिनाये जाते हैं। इस प्रकार आरंभ में ईसाई मिशनरियों का हिंदी के प्रति झुकाव सोद्देश्य था। परंतु आगे चल कर वह झुकाव वहीं तक सीमित न रह कर अनुराग में भी परिणत हो गया।

ईसाई मिशनरियों की निष्ठा-भावना को लक्ष्यकर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "हिंदी भाषा को आधुनिक रूप देने में ईसाई मिशनरियों का महत्वपूर्ण हाथ है। बाइबिल का प्रथम अनुवाद केरे का किया हुआ कहा जाता है। बार्ड तीक्ष्ण दृष्टि संपन्न विद्वान थे। उन्होंने समूचे भारतवर्ष को घूम-घूम कर देखा था और तत्कालीन हिंदु-समाज को अच्छी तरह समझने का प्रयत्न किया था। उनकी 'हिंदूज' नाम की पुस्तक उन दिनों के हिंदू-समाज के सभी पहलुओं पर बहुत अच्छा प्रकाश डालती है। माशमैन भी अत्यंत सुयोग्य विद्वान थे। उन्होंने केवल ईसाई मत के धर्म-ग्रंथों का ही हिंदी रूपांतर नहीं प्रकाशित कराया, बल्कि वे ज्ञान-विज्ञान की अन्य शाखाओं पर भो पुस्तक लिखते-लिखाते रहे। इन ईसाई मिशनरियों का प्रधान उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना था। यह कार्य उन्होंने बड़ी लगन, तत्परता और सूझ-बूझ के साथ किया। उन्होंने सबसे पहले देश की जनता को समझने का प्रयत्न किया। उनकी लिपियों के लिए टाइप ढलवाये, देश के विभिन्न भागों में स्कूल, कालेज की स्थापना को और इस प्रकार देश को जनता को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। परंतु फिर भी साधारण जनता उन्हें शंका को दृष्टि

से देखती रही। इसका कारण यह था कि विदेशी शासक की जाति के थे और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय समाज-व्यवस्था के विरोधी रूप में जनता के सामने उपस्थित हुए। दूसरे इस देश की जनता में धार्मिक स्वाभिमान की मात्रा बहुत अधिक थी और ईसाई मिशनरियों की चेष्टाएं साधारण जनता की दृष्टि में भारतीय संस्कृति की विरोधी ही सिद्ध हुई। इसलिए ईसाई पादरियों ने जो कुछ किया वह शंका दृष्टि से देखा गया।"

मुसलमानों का हिंदी-प्रेम

भारतीयों को भारत-अरब और भारत-ईरान संपर्क-काल से ही मुसलमानों के ज्ञान-विज्ञान तथा काव्य-कलादि का परिचय मिलता आया है। वास्तव में खलीफ़ाओं के समय से ही सुदूरवर्ती देशों तक के निवासी उनकी प्रतिभाओं से परिचित रहे हैं। इत्रादि जैसे सुगंधित पदार्थों का सौरभ अरब से विदेश तक में फैलने के उल्लेख हमें मिलते हैं। ऐसा ही एक उल्लेख हमें शेक्सपियर के 'मैकबेथ' में मिलता है जहां 'परफ्यूम्ज़ आफ अरेबिया' की चर्चा है। उनकी उद्यान-कला का प्रभाव सार्वदेशिक है। भारत-अरब मिलन के प्रभाव ज्ञान-विज्ञान के कई क्षेत्रों में आज भी उजागर हैं। विज्ञान के क्षेत्र में जहां उनसे भारत को ज्योतिष की शब्दावलि तथा अक्षांश-देशांतर की गणना-पद्धति मिली है, वहां भारत से उन्हें गणित, दर्शन ज्योतिष और चिकित्सा-शास्त्र संबंधी ज्ञान-राशियां उपलब्ध हुई हैं। भारत में पंचांगादि बनाने की विधि एवं प्रेरणा कदाचित ईरानी 'ताज़क' के माध्यम द्वारा प्राप्त हुई है।

मध्यकाल में सिर पर राजपूती पगड़ी से भिन्न 'लटपटी पाग' रखने की प्रथा मुसलमानों की देन है। ऐसी लटपटी पाग का उल्लेख तानसेन की पंक्ति, "लटपटि पाग खुल रही पेचन सों अधरन पीक लीक धारे" में उपलब्ध है। इसी को शाहज़ादा आज़मशाह की पंक्ति में 'अटपटी पाग' कहा गया है—"अटपटी पाग पेच लटपटे कीन्हे बोलत, मंद वचन चक कहत कहानी।" कहा जाता है कि भारतीय पहनावे में ताबीज़ादि धारण करने की परंपरा मुसलमानों की देन है।

षोडशशृंगार का उल्लेख अथवा वर्णन बारहवीं शताब्दी की पुस्तक वल्लभ देव कृत 'सुभाषितावली' और सोलहवीं शताब्दी रूपगोस्वामी रचित 'उज्ज्वलनीलमणि' में पाया जाता है। इसकी तालिका में मिस्सी, मेंहदी तथा नथ-धारण का प्रवेश मुस्लिम प्रभाव का परिणाम है। मेंहदी का एक पर्याय 'मदयंतिका' के रूप में मिलता है जिसका उल्लेख लगभग विक्रम की बारहवीं शताब्दी से मिलने लग जाता है। इस विदेशी पौदे के गुण एवं प्रयोग का परिचय मुस्लिम संपर्क द्वारा प्राप्त हुआ है।

संगीत तथा चित्र-कला के क्षेत्र में मुस्लिम प्रभाव स्पष्ट है और स्थापत्य कला भी इससे प्रभावित्त है। मीनाकारी, कशीदाकारी, पच्चीकारी और दस्तकारी पर इसका प्रभाव मुखर है।

अरबों के आधिपत्य समाप्त होने के उपरांत तुर्कों का शासन दीर्घ काल तक स्थापित रहा। आरंभ में परस्पर विरोधी सत्ताओं तथा आचार-विचारों का टकराव स्वाभाविक था। वीर-काव्य की अधिकतर रचनाएं इसी युग की उपज है। धीरे-धीरे संपर्क बढ़ने लगा और आपसी मेल-मिलाप की भावना जागृत होने लगी। योगमार्गी कवि तथा खुसरो ऐसे ही युग की देन हैं। इसका विकास प्रेम-भाव में होना स्वाभाविक था। भागवत धर्म और सूफ़ीमत ने इसमें महत्वपूर्ण योगदान दिया। समन्वय तथा सामंजस्य-वृद्धि के फलस्वरूप भावना-प्रधान प्रेम-काव्य एवं भक्ति-काव्य का सृजन हुआ। जन-संपर्क वाले कवियों को शाही घरानों तक से सम्मान मिलने लगा। संत एवं सूफ़ी काव्य-धाराओं के मूल-प्रेरणा प्रायः एक ही है। इसलिए इनसे एक जैसा ही संदेश मिलता है। राजकीय, प्रशासकीय अथवा यदा-कदा सामाजिक क्षेत्रों में तनाव तथा संघर्ष की स्थिति भले ही बनी रहती हो, वैचारिक अथवा सांस्कृतिक क्षेत्रों में एक दूसरे को समझने अथवा निकट लाने की प्रवृत्ति काम करने लगी थी और यह प्रवृत्ति न्यूनाधिक मात्रा में अबाध गति से सक्रिय रही।

'भाखा' ही नहीं संस्कृत में भी ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं जिनसे पता चलता है कि उन दिनों के मुसलमान कवि उर्दू-फ़ारसी की भांति 'भाखा' तथा संस्कृत में भी साहित्य-सर्जन किया करते थे। सातवीं से बारहवीं शताब्दी के मध्य बंदीजन, मसऊद, क़ुतुबअली तथा अकरमफ़ैज जैसे अन्य अनेक कवि थे जिनकी रचनाएं आज अनुपलब्ध हैं। बारहवीं शताब्दी के कवि अकरमफ़ेज ने 'वृत्त रत्नाकर' जैसी छंद शास्त्र की रचना प्रस्तुत की थी जिन्हें जयपुर नरेश माधव सिंह का आश्रय प्राप्त था। इसी प्रकार सोलंकी नरेश जयसिंह (राज्य-काल सन् १०९३–११४३ ईसवी) के समय में क़ुतुबअली मसज़िद के एक मुल्ला थे जो हिंदी में काव्य-रचना किया करते थे। एक बार प्रति-हिंसा से प्रेरित एक भीड़ ने उनकी मसज़िद को ध्वस्त कर दिया। इस पर उन्होंने एक छंदबद्ध प्रार्थना महाराजा के पास भेजी जिसके फलस्वरूप महाराजा ने न केवल अपराधियों को दंड दिया अपितु मसज़िद का भी पुनरुद्धार करा दिया।

खुसरो दो प्रतिद्वंद्वी संस्कृतियों के मिलन-बिंदु पर स्थित है। वह कई भाषाएं तो जानता ही था, साथ-ही-साथ मेलजोल के लिए मुकरियों के माध्यम से समीपता लाने का प्रयास भी करता था। इसी प्रकार मुल्ला दाऊद तथा अद्दहमाण जैसे कवियों की रचनाएं भी सौमनस्य उत्पन्न करने का निमित्त बनीं। खुसरो ने संगीत के क्षेत्र में भी उक्त प्रवृत्ति से ही प्रेरित होकर भारतीय तथा अरब-ईरानी संगीत के योग से एक संश्लिष्ट संगीत-परंपरा का आविष्कार किया। यह इस बात का संकेत है कि किस प्रकार परस्पर मिलन की दिशा में प्रवृत्तियां विकासोन्मुख थीं। परस्पर विरोधी दिखने वाले तत्वों में मिलन की रासायनिक प्रक्रिया आरंभ हो गई थी। कबीर इस प्रवृत्ति के सच्चे प्रतिनिधि कवि हैं।

मुग़ल-साम्राज्य के संस्थापक बाबर स्वयं तुर्की भाषा के कवि थे। इन्होंने एक हिंदी कवि को अपने यहां प्रश्रय दिया था जिसने पानीपत युद्ध में लोदी के पराजय का वर्णन किया है। स्वयं बाबर द्वारा लिखित एक हिंदी कविता भी प्रसिद्ध है। हुमायूं स्वयं कवि तो न था, किंतु हिंदी बोल-समझ लेता था। उसके दरबारी कवियों में क्षेम तथा नरहरि कवि अधिक प्रसिद्ध हैं। अकबर का शासन-काल हिंदी-काव्य के लिए उर्वर सिद्ध हुआ। सूर, तुलसी, रहीम और रसखान ऐसी ही परिस्थितियों की उपज हैं। मुग़ल बादशाहों की यह परंपरा किसी-न-किसी रूप में बहादुर शाह 'जफ़र' तक चली आई। इसके अतिरिक्त ताज़ और ज़ेबुन्निसा जैसी मुग़लानियों की रचनाएं इस बात का प्रमाण उपस्थित करती हैं कि अपनेपन की भावना किसी सीमा तक घर कर गई थी। जहांगीर तथा शाहजहां ने भी युगानुरूप शृंगार-विरह जनित रचनाएं प्रस्तुत की है। शाहजहां के भाई शहरयार की भी एक कविता प्राप्त होने की सूचना दी गई है। दाराशाह दर्शन और संस्कृत साहित्य का अनुरागी तो था ही उसने हिंदी में 'दोहासार संग्रह' का भी प्रणयन किया। औरंगज़ेब स्वयं कदाचित काव्य-रचना में प्रवृत्त नहीं हो सका, किंतु मीर खलील के हरम में रहने वाली हीराबाई जैनाबादी के प्रेम-पाश में वह धार्मिक कट्टरता के बावजूद फंस गया। इससे उसकी रसिकता प्रकट होती है। इसीलिए उसे 'बहुनायक' तक ठहराया गया है। उसकी कन्या का 'नयन विलास' तो प्रसिद्ध है ही, उसके पुत्र आज़मशाह की रचनाओं में भी रूठे पिया को मनाने तक का आग्रह पाया जाता

है। इसी प्रकार के अन्य शाही घरानों के भी उदाहरण उपलब्ध हैं जिनसे उनके हिंदी-प्रेम का परिचय मिलता है।

अठारहवीं शताब्दी के आलम (चांदसुत) की एक कृति 'ग्रंथ संजीवन' में भी उनके भाषा-प्रेम का संकेत मिलता है—

वेद ग्रंथ हो फ़ारसी, समझि रच्यौ भाषान।
सहज अरथ परकट करो, औषधि रोग समान॥

तथा

ग्रंथ संजीवन नाम धरि, देषहु ग्रंथ प्रकास।
सैहद चांदसुत आलम भाषा कियो निवास॥

यही नहीं, इन्होंने ग्रथारंभ में गणेश तथा सरस्वती की वंदना भी की है—

सिवसुत पद प्रनाम सदा रिधिसिद्धि सरसुत मतिदेहु।
कुमति बिनासहु सुमति मोहि देहु मंगल मुदित करेहु॥

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण अकबर साह 'बड़े साहब' का है जिन्होंने पहले तो 'शृंगार मंजरी' की रचना तेलुगु भाषा में की, फिर उसे संस्कृत में रूपांतरित भी कर दिया। चिंतामणि ने इसी का भाषा में रूपांतरण कर अपनी रचनाओं द्वारा उदाहृत किया है।

परंतु इस संदर्भ में यह समझना एकांगी, अधूरा एवं भ्रांतिमूलक होगा कि सभी मुसलमानों में भाव, भाषा और संस्कृति को लेकर स्वरैक्य था। कदाचित इन जैसी बातों को ही लक्ष्य कर हफ़ीजुल्लाह खां ने अपनी कृति 'हजारा' (द्वितीय भाग, पृ. ४८२) में सत और असत मुसलमानों का परिचय दिया है।

अठारहवीं शताब्दी के कवि ग़रीब ने अपनी रचना 'तारीख ग़रीबी' में सहधर्मी मुसलमानों द्वारा विरोध-प्रदर्शन का उल्लेख किया है—

हिंदी पर न मारो ताना, सभी बतावें हिंदी माना।
यह जो है क़ुरआन ख़ुदा का, हिंदी करें बयान सदा का॥
लोगों को जब खोल बतावें, हिंदी में कह कर समझावें।
जिन लोगों में नबी जो आया उनकी बोली सों बतलाया॥
हिंदी 'मेंहदी' ने फरमाई, 'खूंदमीर' के मुंह पर आई।
कई दोहरे साखो बात, बोले खोल मुबारक जात।
मियां 'मुस्तफ़ा' ने भी कही, और किसी की फिर क्या रही॥

फिर भी वस्तुस्थिति का यह एक पक्ष-मात्र प्रस्तुत करता है। वास्तविकता तो भारतेंदु रचित 'भक्तमाल' में मुखर हुई है—

अली खान पाठान सुता-सह ब्रज रखवारे।
शेख नबी रसखान मीर अहमद हरि प्यारे॥
निरमलदास कबीर ताज खां बेगम पारी।
तानसेन कृष्णदास बिजापुर नृपति दुलारी॥
पिरज़ादी बीबी रास्ती पदरज नित सिर धारिये।
इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिंदुन वारिये॥

इसके बाद ब्रिटिश शासन-काल की शासकीय कुटिल नीति का कुफल हमारे सामने आता है। इसके फलस्वरूप बुद्धि-भेद उत्पन्न होता है और पड़ोसी परस्पर प्रतिद्वंद्वी ही नहीं, विरोधी तक बन जाते हैं। फिर भी दूरदर्शी मुसलमान साहित्यकारों का कभी अभाव नहीं खला है और यह धारा अब तक विघ्न-बाधाओं के बावजूद अक्षुण्ण रूप में प्रवाहित है।

दक्षिणी भारत और दक्खिनी हिंदी

आठवीं शताब्दी में पश्चिमी समुद्र-तट से हो कर मुसलमान दक्षिण भारत में प्रवेश पा चुके थे, किंतु उसके पूर्वी किनारे पर वे दसवीं शताब्दी के पूर्व नहीं पहुंच पाए थे। इसके बाद वे धीरे-धीरे संपूर्ण दक्षिणी भारत में फैल गए थे। सन् १२९६ ईसवी में अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण करने पर थोड़े संघर्ष के बाद यादव नरेश रामदेव ने उससे समझौता कर लिया था। आक्रमणकारी रूप में मुसलमानों का दक्षिण पर यह पहला धावा था। फिर सन् १३०३-४ ईसवी में उसने सेनापति फ़ख़्रुद्दीन जूना को वरगल पर आक्रमण करने का आदेश दिया। परतु वहां काकतीय राजाओं के हाथों से मुंह की खानी पड़ी। इस विजय से प्रेरित हो कर देवगिरि के राजकुमार संगमदेव ने दिल्ली शासन से संबध तोड़ लिया। परंतु राजा रामदेव इस कारंवाई से सहमत न था। फलस्वरूप उसने अलाउद्दीन खिलजी की सहायता से मलिक काफूर की सेना द्वारा संगम-देव को पराभूत किया और आगे चल कर दक्षिण अभियान में मुसलमानों को सहायता पहुँचाई। सन् १३११ ईसवी में मलिक काफूर ने देवगिरि के सहारे मालवा के पांडयनरेश और द्वारसमुद्रम् के होयसल राजा पर हमला किया। इस आक्रमण में वह सफल हुआ और इस प्रकार विंध्य-गिरि से दक्षिणी समुद्र तक उसका राज्य-विस्तार हो गया। सन् १३३२ ईसवी में राजा रामदेव के मरणोपरांत देवगिरि का भी पतन हो गया।

तुग़लक वंश के शासन-काल में वरंगल द्वारा अपने को स्वाधीन घोषित किये जाने पर ग़यासुद्दीन के पुत्र उलुग़ खां के सेनापतित्व में सेना ने वहां जाकर पुनः अधिकार जमा लिया। फिर मुहम्मद तुग़लक ने अपना राज्य-विस्तार कर दक्षिण में तिलिंग, कांपिली, देवगिरि, द्वारसमुद्र और मलाबार सूबों की स्थापना की और कालांतर में बोदर नामक एक अन्य सूबा भो अस्तित्व में आ गया।

मुहम्मद तुग़लक ने देवगिरि का नाम बदलकर दौलताबाद कर दिया था। मंगोल-आक्रमण से त्रस्त होकर उसने दिल्ली राजधानी का स्थानांतरण कर दौलताबाद लाना पसद किया। परंतु उसके वजीर

दौलताबाद की अपेक्षा उज्जैन को राजधानी बनाने के पक्ष में थे। फिर भी सन् १९१९ ईसवी में उसने दौलताबाद ही जाने का निश्चय ले कर प्रस्थान करने का आदेश दे दिया। फलस्वरूप दिल्ली के निवासियों को अनेक प्रकार के मार्ग-कष्ट झेलने पड़े और अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी। उनके दौलताबाद पहुंचने के बाद मुहम्मद तुग़लक को अपनी भूल का पता चला और उसने उन्हें पुनः दिल्ली वापस आने का फ़र्मान जारी कर दिया।

वरंगल पराजय के पश्चात काकतीय नरेश प्रतापरुद्र (द्वितीय) के दो सामंत बुक्का और हरिहर कांपिली चले आए। फिर कांपिली के पतन के बाद दोनों को दिल्ली भेजा गया जहां उनका इस्लाम धर्म में धर्मांतरण कर लिया गया। फिर कांपिली भेजे जाने पर वे हिंदू धर्म में लौट आए। इन्होंने ही विजयनगर साम्राज्य की नींव डाली।

मुहम्मद तुग़लक के जीवन-काल में ही दौलताबाद के कुछ मुस्लिम सामंतों ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया और इस्माइल को अपना शाहंशाह स्वीकार कर लिया। परंतु इसकी जानकारी मिलते ही मुहम्मद तुग़लक ने स्वयं दौलताबाद आकर विद्रोह समाप्त कर दिया। फिर उसके गुजरात चले जाने पर दौलताबाद वालों ने हसन गंगू के नेतृत्व में बहमनी राज्य की स्थापना की जिसकी राजधानी गुलबर्गा बनी। हसन गंगू ने सन् १३४७ ईसवी में अपना नाम-परिवर्तन कर सुलतान मुज़फ्फ़र अलाउद्दीन रख लिया और उसने वहां का शासन-सूत्र अपने हाथों में लिया। कालांतर में बहमनी शासन के अंतिम अठारहवें शासक कलीमुल्लाह (सन् १५२४-१५२७ ईसवी) के शासन-काल में आदिलशाही, क़ुतुबशाही, निज़ामशाही और बरीदशाही वंशजों ने बीजापुर, गोलकुंडा, अहमदनगर तथा बीदर में अपना-अपना राज्य स्थापित कर लिया। परंतु इनमें से बरीदशाही अल्पजीवी रही। इस प्रकार दक्षिण भारत के अधिकांश भू-भाग पर हिंदू राज विजयनगर के अतिरिक्त शेष तीन मुस्लिम सल्तनतों का शासन चलने लगा।

मुग़ल सम्राट अकबर ने उत्तरी भारत में अपनी विजय पताका फहराने के पश्चात सन् १५९५ ईसवी में खानदेश पर अधिकार कर अहमदनगर के एक भाग को अपने अधीन कर लिया। मालवा विजय के बाद सन् १५९१ ईसवी से ही उसकी आंखें विजयनगर के विस्तार पर लगी थीं। फिर सन् १५९२ ईसवी में उसने अब्दुर्रहीम खानखाना

को अहमदनगर भेजा, किंतु वे अपने अभियान में असफल रहे। अंत में सन् १६०० ईसवी में अबुलफ़जल ने अहमदनगर के पराभव के साथ सफलता प्राप्त की।

निज़ामशाही सामंत मलिक अंबर द्वारा अहमदनगर स्वतंत्र घोषित कर दिया गया। इस विद्रोह को कुचलने के लिए सन् १६०८ ईसवी में खानखाना को पुनः दक्षिण भेजा गया, किंतु इस बार भी विजय-श्री उनके हाथ न लगी। अंत में सन् १६१७ ईसवी में शाहज़ादा ख़ुर्रम ने उस पर अधिकार कर लिया। परंतु सन् १६२० ईसवी में मुग़ल सेना के वापस चले जाने पर मलिक अंबर ने बीजापुर तथा गोलकुंडा की सहायता से मुग़लों को मांडू तक भगा दिया। फिर ख़ुर्रम (शाहजहां) के दुबारा आने पर मलिक अंबर को झुकना पड़ा और बिना किसी संघर्ष के ही बीजापुर तथा गोलकुंडा ने मुग़ल शासन की अधीनता स्वीकार कर ली। शासनारूढ़ होकर शाहजहां ने बीजापुर तथा गोलकुंडा को अपने अधीन लाने का अभियान आरंभ किया। उस समय तक बीजापुर और अहमदनगर में परस्पर मनमुटाव पैदा हो चुका था और मलिक अंबर भी ख़ुदा के प्यारे बन चुके थे। स्वयं शाहजहां ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दक्षिण की यात्रा आरंभ की। इसी बीच उसके बुरहानपुर पहुंचते-पहुंचते २१ जनवरी सन् १६३१ ईसवी को मुमताज़ महल की मृत्यु हो गई। औरंगज़ेब का दक्षिण को सूबेदार नियुक्त कर शाहजहां वापस आ गया।

सन् १६३१ ईसवी में ही अहमदनगर की सीमा में प्रवेश कर मुग़ल सेना ने उसके कुछ भू-भाग को अपने अधीन कर लिया। शेष भाग पर मराठों तथा मुसलमान सामंतों ने कब्ज़ा कर लिया। शाहजहां ने अपने अधीनस्थ भू-भाग को खानदेश, बरार खानदेश, तेलंगाना और दौलताबाद नामक चार सूबों में विभक्त कर दिया। मुग़ल सूबेदार यद्यपि दौलतबाद में स्वयं रहता था तथापि प्रधान कार्यालय खिड़की (औरंगाबाद) में था। इसके साथ ही दक्षिण भारत के इतिहास ने नया मोड़ ले लिया था।

डेढ़ सौ वर्षों से अधिक समय तक दक्षिणी भारत में स्थापित सत्ता-संतुलन समाप्त हो गया और मराठों को इस स्थिति से लाभ उठाने का अवसर हाथ लगा। औरंगज़ेब की सूबेदारी पहली बार लगभग चार वर्ष (सन् १६४१-१६४४ ईसवी) तक रही। सन् १६५२ ईसवी में

दुबारा आकर उसने बीजापुर और गोलकुंडा पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहा। गोलकुंडा के शासक अब्दुल्ला क़ुतुबशाह और मीरजुम्ला के बीच मतभेद हो जाने के कारण मीरजुम्ला को गोलकुंडा छोड़ना पड़ा और उसने औरंगज़ेब तथा ईरान के शाह आदि से सहायता की याचना की। फलस्वरूप औरंज़ेब ने सन् १६५६ ईसवी में गोलकुंडा पर धावा बोल दिया। फिर क़ुतुबशाह की वृद्धा मां द्वारा क्षमादान मांगने के पश्चात क़ुतुबशाह की कन्या से औरंगज़ेब के पुत्र मुहम्मद का विवाह हुआ। बीजापुर के शासक ने भी उससे समझौता कर लिया।

औरंगज़ेब के उत्तरी भारत वापस आने पर उत्तराधिकार का प्रश्न खड़ा हो गया जिसमें उसे उलझना पड़ा। फिर स्थिति के अनुकूल होने पर वह सन् १६८६ ईसवी में बीजापुर लौटा। इस बीच जयसिंह आदि के सेनापतित्व में बीजापुर पर कई हमले हो चुके थे। औरंगज़ेब ने सिकंदर आदिलशाह को 'ख़ान' की उपाधि द्वारा मंडित कर बीजापुर को उसी वर्ष अपने अधीन कर लिया। ख़ान मात्र जाग़ीरदार बन कर रह गए। सन् १६८७ ईसवी में गोलकुंडा का भी पतन हो गया और अबुल हसन तानाशाह को बंदी बना लिया गया।

मुग़ल शासकों की महत्त्वाकांक्षा भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के बाद मध्य एशिया की ओर अग्रसर होने की थी, किंतु दक्षिणी भारत के मुस्लिम राज्य उनकी इच्छा-पूर्ति में सहायक न होकर बाधक बने। हुमायूं ने अफ़ग़ानिस्तान को ईरानी शाह की सहायता से परास्त किया था और वे उससे आगे भी बढ़ कर विजय प्राप्त करना चाहते थे। ईरानी शाह को यह बात पसंद न थी अतएव हुमायूं के बाद इन्होंने अपना सहयोगी हाथ खींच लिया। इसका मुग़ल शासकों पर अच्छा प्रभाव न पड़ा और वे ईरानी शाह के प्रतिद्वंद्वी बन बैठे। उनकी देखादेखी इन्होंने भी कला और साहित्य को प्रश्रय देना आरंभ कर दिया। फलस्वरूप अकबर के शासन-काल में फ़ारसी और उसके साहित्यकारों का सम्मान बढ़ गया और उन्हें शाही संरक्षण प्राप्त हो गया।

गुलाम, खिलजी, तुग़लक और लोदी वंश के शासन-काल में मुसलमानों ने उत्तरी भारत की भाषाओं को आत्माभिव्यक्ति का माध्यम बना लिया था। परंतु अकबरी शासन में स्थिति परिवर्तन हो गया और फैजी तथा फज़ल (अबुल) ने फ़ारसी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम

बना कर उसका भावी पथ प्रशस्त कर दिया। फैज़ी फ़ारसी के कुशल कवि थे और फ़ज़्ल अच्छे गद्य-लेखक। फज़्ल के फ़ारसी में लिखे पत्रों का एक संकलन 'इंशए अबुल फज़्ल' कहला कर प्रसिद्ध है। इनका इतिहास-ग्रंथ 'अकबरनामा' तथा 'आइने अकबरी' का भी महत्व है। इसी प्रकार निज़ामुद्दीन अहमद का 'तबक़ाते अकबरी', गुलबदन बेग़म का 'हुमायूंनामा', जौहर का 'तज्किरतुल वाक़ेआत' तथा अब्बास शेर-वानी का 'तुहफ़ए अकबरशाही' भी इस काल की उल्लेखनीय रच-नाएं हैं।

इसके साथ ही अकबर ने एक अनुवाद विभाग की स्थापना कर संस्कृत के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को फ़ारसी में लाकर फ़ारसी के माध्यम से उसके पाठकों को सुलभ कराया गया। अकबर की देखरेख में काम करने के लिए संस्कृत-फ़ारसी आदि के विद्वानों की नियुक्ति की गई। रामायण तथा महाभारत (रज़्मनामा) का अनुवाद शेख सुलतान, नबी खां और अब्दुल क़ादिर ने प्रस्तुत किया। इसी प्रकार इब्राहीम सरहिंदी ने 'अथर्ववेद', फैज़ी ने 'लीलावती' शाह मुहम्मद ने 'राजतरं-गिणी', शेरी और फ़ज़्ल ने 'हरिवंश', फ़ज़्ल ने 'पंचतंत्र' तथा 'नल-दमयंती' की कथा का फ़ारसी रूपांतरण किया।

इस विभाग द्वारा संस्कृत से भिन्न भाषाओं की पुस्तकों का अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया। 'क़ुरआन शरीफ़' की व्याख्याओं के अतिरिक्त तुर्की भाषा की 'तुज़के बाबरी' तथा अरबी भाषा की 'नज्मुलवल्दंन' का भी फ़ारसी अनुवाद तैयार कराया गया। 'मुंतखबुत्तवारीख' (तृतीय भाग) में अकबरी दरबार के कवियों तथा लेखकों का उल्लेख है। खानखाना अब्दुर्रहमान फ़ारसी भाषा-साहित्य के समर्थ पोषक तथा अच्छे प्रशंसक हो कर भी हिंदी एवं संस्कृत के अच्छे कवि थे। फ़ारसी मुग़ल सल्तनत की राजभाषा बन गई थी।

इसका एक परिणाम यह हुआ कि उच्चवर्गीय समाज का झुकाव फ़ारसी की ओर उन्मुख हुआ। खुसरो के समय से इस काल की स्थिति भिन्न थी। हिंदी और फ़ारसी खुसरो के लिए संस्कारगत भाषाएं थीं। उनके लिए इनका इससे अधिक महत्व न था, किंतु यही बात हम फैज़ी तथा फ़ज़्ल के बारे में नहीं दुहरा सकते। इनके लिए फ़ारसी का प्रचार-प्रसार राजाज्ञा के अनुरूप था। शासकीय समर्थन के फलस्वरूप राजकाज के अतिरिक्त दैनिक व्यवहार में भी फ़ारसी भाषा अथवा फ़ारसी शब्दों का

प्रयोग बढ़ने लगा। विशेषतः दरबारी संपर्क में आने वाले लोगों ने तत्सम तथा तद्भव संस्कृत शब्दों की अपेक्षा अरबी-फ़ारसी शब्दों के ग्रहण एवं प्रयोग आरंभ कर दिया। इससे व्यवहार की भाषा एक नए रूप में विकसित हुई जिसे 'उर्दू' संज्ञा द्वारा अमहित किया गया। एक ओर जहां राज-दरबार तथा उसके संपर्क की भाषा की यह स्थिति थी, वहां जन-संपर्क की भाषा ओर उनके कवि-लेखकों की प्रवृत्ति अपनी स्वतंत्र दिशा को ओर अग्रसर हो रही थी।

बीजापुर और गोलकुंडा का शासन ईरान से अपेक्षाकृत अधिक अपनापन अनुभव करता था। इसलिए उनका भी झुकाव फ़ारसी भाषा एवं साहित्य के प्रचार-प्रसार की ओर अधिक था। फिर भी इसका श्रेय बहमनी शासकों को मिला। महमूद (सन् १३६८-१३९६ ईसवी) के शासन-काल में फ़ारसी के शायरों को गुलबर्ग़ा में अच्छा स्वागत-सत्कार मिला। इसी प्रकार गोलकुंडा के मुहम्मद कुली तथा अब्दुल्ला ने अरबी भाषा को विशेष रूप से प्रश्रय एवं प्रोत्साहन दिया।

बहमनी शासकों के समय से ही मुस्लिम समुदाय में दरार पैदा हो गई थी। अरब, ईरान तथा ईराक़ से आने वाले मुसलमानों को जहां 'आफ़ाक़ी' कहा जाता था, वहां उत्तरी भारत से आये मुसलमानों को 'दक्खिनी' की संज्ञा दी गई थीं। ये ग़ैरमुल्की मुसलमान जन-संपर्क से दूर रहना पसंद करते थे, किंतु मुल्की मुसलमानों की प्रवृत्ति इनसे भिन्न थी। वे न केवल जन-संपर्क बढ़ाना चाहते थे अपितु इनसे संबंध तक जोड़ने के पक्षपाती थे। फ़िरोज़शाह बहमनी उनमें अग्रणी था। उसने न केवल कर्णाटक निवासी ब्राह्मणों को दायित्व पूर्ण पदों पर बैठाया अपितु नृसिंह नामक ब्राह्मण को बहमनी वंश के राजगुरु पद पर आसीन किया। इसी प्रकार उसने विजयनगर की राजकुमारी का पाणि-ग्रहण भी किया।

आफ़ाकी अपने को दक्खिनी मुसलमानों से श्रेष्ठतर मानते थे। इस-लिए उनकी दृष्टि में यवनी भाषा और रक्त का बिशेष महत्व था। फिर दक्खिनी मुसलमानों में भी दो प्रकार के मुसलमान थे। एक वे जो विदेश से आकर उत्तरी भारत में कुछ काल तक निवास करने के बाद दक्षिण में आये और दूसरे वे जिनका मूलतः भारतीय होने पर भी इस्लाम में धर्मांतरण हुआ था। ऐसी दशा में मुल्की मुसलमानों की अपेक्षा ग़ैर मुल्की मुसलमानों का अधिक सम्मान था। उन्हें व्यापारादि

में उन्नति करने के अधिक अवसर मिलते थे। उनसे मुल्की मुसलमानों को भाई-चारे का वह व्यवहार नहीं मिलता था जिसकी उनसे अपेक्षा थी। इसकी कभी-कभी तीव्र प्रतिक्रिया होती थी। ग़ैर मुल्की मुसलमानों की हत्या तक कर दी जाती थी। मुल्की और ग़ैर मुल्की मुसलमानों का आपसी संघर्ष विशेषतः बीजापुर तथा गोलकुंडा में हुआ करता था। परंतु इनमें परस्पर 'दलबदलू'-प्रथा का भी प्रचलन रहा।

इस संघर्ष का प्रभाव भाषा, साहित्य और संस्कृति के स्वरूप पर पड़ना अवश्यंभावी था। मुहम्मद तुग़लक के शासन-काल में मुल्की मुसलमान अच्छी संख्या में उत्तरी भारत से दक्षिण में आये थे। इनमें से अधिकतर दिल्ली अथवा उसके समीप्वर्ती क्षेत्रों के निवासी थे। इनके साथ-साथ वहां की भाषा, साहित्य और संस्कृति भी आई। वहां की भाषा कई बोलियों के मेलजोल से खड़ीबोली के रूप में विकसित हुई थी। दक्खिनी का मूल स्रोत यहीं ढूंढ़ा जा सकता है। इस भाषा ने फ़ारसी और मूल दक्षिणी भाषाओं के माध्यम के रूप में नए युग के निर्माण में सहायता पहुंचाई। दक्खिनी के विकास-क्रम में ऐसे भी अवसर आये हैं जब कि कभी तो उसका फ़ारसीकरण हुआ है और कभी हिंदीकरण।

जो हो, इस संदर्भ में मीराजी शम्सुल उश्शाक़ (मृत्यु-काल सन् १४९७ ईसवी) का यह कथन उल्लेखनीय है—

ये गुरुमुख पंद पाया। वो ऐसे बोल चलाया॥
जे काई अछे ख़ासे। उस बयान के पासे॥
वे अरबी बोल न जाने। ना फ़ारसी पछाने॥
ये उनकूं वचन हीत। सुन्नत बूझे रीत॥

वजही (सन् १६३९-१६६० ईसवी) ने सर्व प्रथम 'दखनी' शब्द का प्रयोग भाषा के संदर्भ में किया है—

दखन में जो दखनी मिठी बात का।
अदा नइं किया कोई उस धात का॥

—क़ुतुब मुश्तरी, पृ. २९.

सनती (सन् १७१४ ईसवी) में 'क़िस्सा बेनज़ार' (पृ. २६) में लिखा है—

के दखनी जबां सूं इसे बोलना—
जो सीपी ते मोती नमन रोलना।

हाशमी ने भी अपनी रचना 'यूसुफ़ जुलेखा' (रचना-काल सन् १७४५ ईसवो) में 'दखनी' शब्द का व्यवहार किया है—

तेरे शेर का जग में दखनो है नाउं।
न को भौत कर दुसरो बोली मिलाउं ॥

परवर्ती कालीन सन् १८०७ ईसवी के कवि भी हिंदी-दक्खिनी के अंतर से परिचित थे—

ना कुछ अरबी इलम पछाना। नहीं फ़ारसी कुछ जाना ॥
ना कुछ दखिनी बोली आईं। ना कुछ विद्या हिंदी पाई ॥
—तारीखे ग़रीब

परंतु मीराजी शम्सुल उश्शाक़ (मृत्यु-काल सन् १४९७ ईसवो) के समय तक 'दखनी' या 'दखिनी' शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता है। उन दिनों 'भाका' या 'हिंदो' शब्दों के प्रयोग प्रचलित भाषा के लिए किये जाते थे—

है अरबी बोल केरे। और फ़ारसी भौतेरे ॥
ये हिंदी बोलूं सब। उस अर्त्तों के सबब ॥
ये भाका भल सो बोले। पन उसका भावत खोले ॥
ये गुरुमुख पंद पाया। तो ऐसे बोल चलाया ॥

दक्खिनी भाषा और साहित्य को बाबूराम सक्सेना, राहुल सांकृत्यायन और श्रीराम शर्मा आदि ने हिंदी पाठकों के लिए सुलभ बनाया है। उन्नीसवीं शताब्दी तक ग़ालिब और सर सय्यद अहमद जैसे लोगों ने इसे 'हिंदी' अथवा 'दक्खिनो' कहा है। परंतु आज इसे किन्हीं क्षेत्रों में झुठलाने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इसका आज चाहे जो भी नाम दिया जाय, यह अब भी है दक्खिनी हिंदी ही।

तेरहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक की अवधि दक्खिनी का विकास-काल है। इसके तीन रूप पाये जाते हैं : एक बोल चाल का रूप और दो साहित्यिक रूप। दक्खिनी के बोलचाल वाले रूप का प्रचलन अब भी कई क्षेत्रों में वर्तमान है। आंध्र, कर्णाटक और महाराष्ट्र इसके मुख्य क्षेत्र हैं। क्षेत्रीय बोलियों के प्रभाव के कारण इसके कई भेदोपभेद हो गए हैं और इनका दैनिक व्यवहार अधिकांश लोग करते हैं।

आधुनिक बंगला भाषाभाषियों की हिंदी-निष्ठा

भाषा विज्ञान की दृष्टि से हिंदी और बंगला एक ही परिवार की भाषाएं हैं और दोनों के सीमा-क्षेत्र तक एक दूसरे से मिले हुए हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से आधुनिक काल के पहले तक दोनों भाषाओं के साहित्य की भाव-भूमि में बहुत कुछ समानता रही है।

प्राचीन साहित्य को देखने से पता चलता है कि संयोगवश हिंदी भाषाभाषी क्षेत्र में ही सांस्कृतिक केंद्र अधिक रहे हैं जिनके फलस्वरूप हिंदी की स्थिति तथा उसका महत्व प्रभावशाली बन गया। राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर की जन्म-भूमि होने के साथ-साथ यह क्षेत्र गीता, भागवत, रामायण और महाभारत का भी रचना-केंद्र रहा है। इसलिए इसकी प्रेरणा तथा प्रभाव से बच निकलना किसी भी समान-धर्मा के लिए संभव न था। फलस्वरूप पारस्परिक आदान-प्रदान अबाध गति से चलता रहा। इस प्रवृत्ति को प्रश्रय देने में राजनीतिक कारण भी सहायक हुए। मध्यकाल में मुस्लिम आक्रमणकारियों ने हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र को रौंदते हुए बंगाल को पदाक्रांत किया था। बंगाल पहुंचने के पहले वे इस अवधि में हिंदी भाषाभाषी क्षेत्र की रीति-नीति और रहन-सहन से बहुत कुछ परिचित हो चुके थे। इन सबका समवेत प्रभाव बंगाल पर पड़ना अवश्यंभावी एवं अनिवार्य था।

ऐतिहासिक कारणों से हिंदी प्रदेशों का अपेक्षा बंगाल को ही पहले पहल पश्चिमी राष्ट्रों के संपर्क में आने का अवसर मिला। अतएव उनके गुण-दोष का प्रभाव भी उन पर पहले पड़ा। फलस्वरूप आधुनिकता का रंग उन पर पहले चढ़ गया और उनकी मनोवैज्ञानिक स्थिति में अंतर आ गया। फिर भी राजनीतिक उलट-फेर के साथ ही सांस्कृतिक परिवर्तन भी संभव नहीं हुआ करता। संस्कृति की जड़ें राजनीति की अपेक्षा अधिक गहराई में रहा करती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अंतःस्रोत टूटने नहीं पाता और आपसी आदान-प्रदान चला करता है। यद्यपि उसकी धारा क्षीण हो जाती है और प्रवाह की गति मंद पड़ जाती है।

आधुनिक काल में बंगला पर हिंदी का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में बना ही रहा। 'आधुनिक हिंदो साहित्ये बांगलार स्थान' के लेखक सुधाकर चटर्जी ने लिखा है "ब्रिटिश आमले ओ अनेक कृती बांगालीइ हिंदी समर्थने एगिये एसे छेन वा हिंदी साहाय्या बांगला साहित्येर प्रयास पेये छेन।" अर्थात् ब्रिटिश शासन में अनेक प्रभावशाली बंगाली हिंदी के समर्थक रूप में अग्रसर हुए हैं। वे हिंदी की सहायता से बंगला साहित्य को समृद्ध बनाने के लिए यत्नशील है। यह प्रभाव तीन स्रोतों से बंगला के लिए सहायक बना है : भावात्मक, साहित्यिक तथा रूपांतरित। भावात्मक प्रभाव के अंतर्गत भाषा और संगीत का स्थान है। इसमें जन-संपर्क का प्रमुख हाथ रहता है। साहित्यिक प्रभाव के मूल में धार्मिक अथवा राष्ट्रीय भावना है। इन सबकी प्रेरणा से रूपांतरित प्रभाव उत्पन्न होता है। आधुनिक काल का प्रभाव अठारहवी शताब्दी के तृतीय चरण से लक्षित होता है।

राजा राममोहन राय ने वेदांत सूत्रों के भी भाष्य का हिंदी रूपांतर प्रचारित कराया था। यही नहीं हिंदी के गद्य-निर्माताओं में उनका स्थान स्वीकार किया जाना चाहिए। उनकी भाषा शुद्ध तथा संस्कृतनिष्ठ हिंदी हुआ करतो थी। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनकी भाषा को हिंदी व्याकरण-सम्मत माना है। उनके समसामयिक फोर्ट विलियम कालेज में हिंदी का जो काम होता था वह अधिकतर आजीविका को लेकर, किंतु राजा साहब का हिंदी-प्रेम किसी महान उद्देश्य-पूर्ति की भावना से प्रेरित था। उनके ब्रह्म संगीत के मूल में भी हिंदी में प्रचलित संगीत की ही प्रेरणा थी।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर का संपर्क फोर्ट विलियम कालेज के हिंदी विद्वानों से था। 'बैताल पचीसी' का बगला रूपांतर उन्होंने वहीं पर किया था। पंडितजी बंगला गद्य के प्रमुख निर्माताओं में थे और साथ-ही-साथ हिंदी के भी अच्छे जानकार थे।

बंकिम बाबू पर हिंदी का प्रभाव एक अन्य दिशा से लक्षित हुआ। 'बंग दर्शन' तथा 'मृणालिनी' में उन्होंने ब्रजबुलि के पदों का उपयोग किया जो बहुत कुछ हिंदी के निकट की भाषा थी। आधुनिक काल के बंगला गीति-काव्य में हिंदी-प्रधान ब्रजबुलि का यह प्रयोग निश्चित महत्व का है। हिंदो के विषय में उनका मत ध्यान देने योग्य है। उनका कथन है, "इंग्रेजी भाषा द्वारा जाहा हउक, किंतु हिंदी शिक्षा

ना करिले कोनो क्रमेइ चलिबेना। हिंदी भाषाय पुस्तक ओ वक्तृता द्वारा भारतेर अधिकांश स्थानेर मंगल-साधन करिबेन केवल बांगला ओ इंग्रेजी चर्चाय हइबे ना। भारतेर अधिवासी संख्यार सहित तुलना करिले, बांगला ओ इंग्रेजी कय जन लोक बलिते ओ बुझिते पारेन? बांगलार न्याय जे हिंदिर उन्नति हइते छेना, इहा देशेर दुर्भाग्येर विषय। हिंदी भाषार साहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये जांहारा ऐक्य-बंधन संस्थापन करिते पारिबेन, तांहाराइ प्रकृत भारत-बंधु नामे अभिहित हइबार योग्य। सकले चेष्टा करुन, यत्न करुन जतो दिन परेइ हउक, मनोरथ पूर्न हइबे।" अर्थात् अंग्रेजी भाषा द्वारा जो भी हो, किंतु हिंदी भाषा की शिक्षा के बिना किसी भी प्रकार नहीं चलने का। हिंदी भाषा में पुस्तक तथा वक्तृता देने से अधिकांश भाग का जो हित-साधन होगा, केवल बंगला और अंग्रेजी की चर्चा से वह नहीं होने का। भारतवासियों की संख्या से तुलना करने पर कितने लोग बंगला और अंग्रेजी बोल तथा समझ सकते हैं? बंगला के करते हिंदी की उन्नति जो नहीं हो रही है यह देश के दुर्भाग्य का विषय है। हिंदी की सहायता से भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में जो एकता स्थापित कर सकेंगे वही वास्तव में भारत-बंधु कहलाने योग्य हैं। सभी मिल कर चेष्टा करें, यत्न करें चाहे जितने दिन लगें, मनोरथ पूरा होकर रहेगा।

केशवचंद्र सेन का हिंदी विषयक मत बहुविदित है। उनके अनुसार, "यदि भारतबर्ष एक ना हइले भारतवर्षे एकता ना हय, तबे ताहार उपाय कि? समस्त भारतवर्षे एक भाषा कराइ उपाय। एखन जतोगुलि भाषा भारते प्रचलित आछे, ताहार मध्ये हिंदी भाषा प्राय सर्वत्रइ प्रचलित। एइ हिंदी भाषा के यदि भारतवर्षेर एकमात्र भाषा करा जाय, तबे अनायासे शीघ्र संपन्न हइते पारे।...... भाषा एक ना हइले एकता हइते पारे ना।" अर्थात् यदि भारतवर्ष के एक न होने से भारतवर्ष में एकता न हो तो उपाय क्या है? समस्त भारतवर्ष में एक भाषा का व्यवहार किया जाय। इस समय जितनी भाषाएं भारतवर्ष में प्रचलित हैं उनमें हिंदी भाषा प्रायः सर्वत्र प्रचलित है। इस हिंदी को यदि भारतवर्ष की एकमात्र भाषा स्वीकार कर लिया जाय तो अनायास ही शीघ्र संपन्न हो सकती है।......भाषा के एक न होने से एकता संभव नहीं हो पाती।

भूदेव मुखर्जी ने भी हिंदी के विषय में अपना मत व्यक्त किया था, "भारतबासीर चलिते भाषागुलिर मध्ये हिंदि-हिंदुस्थानीई प्रधान एव मुसलमानदिगेर कल्याने उहा समस्त महादेश व्यापक। अतएव अनुमान करा जाइते पारे जे, उहा के अवलंबन करियाइ कोनो दूरवर्ती भविष्य काले समस्त भारतवर्षेर भाषा सम्मिलित थाकिबे।" अर्थात् भारतवर्ष की प्रचलित भाषाओं में हिंदी-हिंदुस्तानी ही प्रधान है और मुसलमानों के हित में भी वह देशव्यापी है। इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि यह आगे चल कर समस्त भारतवर्ष की भाषा बन जायेगी।

गुरुदेव रवींद्रनाथ का हिंदी-अनुराग प्रसिद्ध है ही। उन्होंने कबीर के एक सौ पदों का अंग्रेजी रूपांतर कर उसका संसार भर में प्रचार होने में सहायता पहुंचायी। विश्वभारती, शांतिनिकेतन का 'हिंदी भवन' उनके हिंदी-प्रेम का मूर्त रूप है। संगीत के माध्यम से हिंदी का प्रभाव उनके प्रारंभिक जीवन से ही उन पर पड़ने लगा था। उनके पिता महर्षि देवेंद्र नाथ स्वयं हिंदी (हिंदुस्तानी) संगीत के विशेष अनुरागी थे। उनकी प्रेरणा से ब्रह्म संगीत के लिए जो रचनाएं लिखी गईं उन पर ध्रुपद की बहुलता के कारण हिंदी संगीत का स्पष्ट प्रभाव है। गुरुदेव ने स्वयं भी हिंदी संगीत का आभार स्वीकार किया है। इसका एक परिणाम यह हुआ कि उनके कई गीतों पर पुरानी हिंदी-रचनाओं की छाया अथवा छाप दिखायी पड़ने लगी। उनकी कौतूहल वर्द्धक रचना 'भानुसिंह ठाकुरेर पदावली' ब्रजबुलि में ही लिखी गई।

विश्वभारती में क्षितिमोहन सेन गुरुदेव के प्रमुख सहयोगियों में थे। उन्होंने मध्यकालीन संतों—विशेषतः हिंदी भाषाभाषी क्षेत्र के संतों—पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। उनके संपर्क से ही गुरुदेव कबीरादि की रचनाओं से परिचित हुए। क्षितिमोहन सेन ने हिंदी में भी बहुत कुछ लिखा है। उनकी कृति 'संस्कृति संगम' प्रसिद्ध और पुरस्कृत पुस्तक है। विधुशेखर भट्टाचार्य भी एक ऐसे ही उद्भट विद्वान थे जिनका हिंदी-अपभ्रंश के प्रति अटूट अनुराग था, यद्यपि उनकी गति अन्यान्य विषयों में भी सराहनीय थी।

मध्यकालीन हिंदी साहित्य की कबीर, दादू, मीरां, तुलसी, नंददास, नाभादास और बिहारी आदि की रचनाओं के रूपांतर

के अतिरिक्त गौड़ीय संप्रदाय के कई भक्त कवियों की हिंदी अथवा हिंदी मिश्रित रचनाओं अथवा प्रेमाख्यान-रचयिताओं की कृतियों के अनुवाद अथवा संग्रह बंगला में पाये जाते हैं। आधुनिक लेखकों में से स्वामी दयानंद के 'सत्यार्थ प्रकाश' लल्लू जी लाल के 'प्रेम सागर', प्रेमचंद के 'गोदान' और कुछ कहानियों के संग्रह 'प्रेमचंदेर गल्प', भगवती चरण वर्मा के 'चित्रलेखा', राहुल जी के 'वोल्गा से गंगा', हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'वाणभट्ट की आत्मकथा' और बेनीपुरी के 'माटी की मूरति' आदि के अनुवाद द्वारा परस्पर परिचय तथा सद्भाव बढ़ाने में सहायता मिली है।

इनके अतिरिक्त तारणीचरण मित्र, राजनारायण वसु, जगदबंधु भद्र, सतीशचंद्र राय, मन्मथ राय, महेंद्र राय, गोपीनाथ कविराज, रामशंकर भट्टाचार्य, प्रमथनाथ तर्कभूषण, नलिनी मोहन सान्याल, महादेव साहा, शचींद्र नाथ सान्याल, भूपेंद्र नाथ सान्याल, मन्मथनाथ गुप्त, उषा मित्रा और लावन्यप्रभा राय आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनकी रचनाओं से हिंदी का साहित्य-भंडार समृद्ध हुआ है अथवा होता जा रहा है। इस संदर्भ में हम बहुश्रुत विद्वान भाषाविद् (राजनीतिज्ञ नहीं) सुनीति कुमार चाटुर्ज्या की हिंदी-सेवाओं को भी सादर स्मरण किये बिना नहीं रह सकते। चिंतामणि बाबू द्वारा 'सरस्वती' और रामानंद बाबू द्वारा 'विशाल भारत' जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन तथा संचालन उनकी हिंदी-निष्ठा का ही सुफल है।

•

कुछ ज्ञातव्य आंकड़े

भारतीय जन-संख्या	४०,०००००००
कुल भारतीय मातृभाषाएं	१,६४२
भारत में विदेशी मातृभाषाएं	१०३
शेष भारतीय मातृभाषाएं	१,५४९
संविधान द्वारा स्वीकृत भाषाएं	१५
स्वीकृत भाषाओं के अंतर्गत मातृभाषाएं	३८१
इतर भाषाओं के अंतर्गत मातृभाषाएं	१,१६८
मंगोलियन परिवार की मातृभाषाएं	२२६
भारोपीय परिवार की भारतीय आर्यभाषाओं के प्रयोगकर्ता	७३%=५७४
द्रविड़ परिवार की भाषाओं के प्रयोगकर्ता	२४%=१५३
आस्ट्रो-एशियाटिक उप-परिवार के प्रयोगकर्ता	१·५%=६५
द्रविड़-आस्ट्रिक संयुक्त परिवार के प्रयोगकर्ता	५०,०००
अवर्गीकृत मातृभाषाएं	५३०
एक-एक या दो-दो प्रयोगकर्ताओं की मातृभाषाएं	२१०
एक-एक प्रयोगकर्ता की मातृभाषाएं	१५१
कुल भारतीय भाषाएं	८२६
मंगोलियन	९८
भारोपीय	५४
द्रविड़-परिवार	२०
आस्ट्रिक परिवार	२०
द्रविड़-आस्ट्रिक मिश्रित	१

सोपान

प्राचीन भारतीय ग्रंथ-लेखन-प्रणाली

परंपरा द्वारा अर्जित अथवा संचित ज्ञान-राशि को तथा अपनी कृति को स्थायित्व प्रदान करने के जितने यत्न किये गए हैं उनमें ग्रंथ-लेखन का महत्वपूर्ण स्थान है। परंतु ग्रंथ-लेखन-कला जितनी प्राचीन है उससे कहीं अधिक पुरानी लेखन-क्रिया है। 'लिखना' शब्द संस्कृत भाषा के 'लिख्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'कुरेदना।' इसी प्रकार लिखावट के लिए 'लिपि' शब्द का प्रयोग प्रचलित है जिसका संबंध स्याही लेपने से जान पड़ता है। कारण, लिखने की ये दोनों ही प्रणालियां प्रचलित रही हैं।

श्रुति-परंपरा के आधार पर कुछ लोगों ने अनुमान किया है कि अति प्राचीन काल में लिखने की प्रणाली न रही होगी। मैक्समूलर पाणिनि के आधार पर यह मानने को तैयार नहीं हैं कि लिखने की प्रणाली ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के पहले से प्रचलित थी। बर्नेल के अनुसार भारतवासियों ने फ़िनिशियन लोगों से लिखना सीखा। बूलर जैसा पुरातत्ववेत्ता तो ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति तक सेमिटिक लिपि से मानता है, जब कि भारत में सेमिटिक अक्षरों का प्रवेश ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में हो चुका था। परंतु गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने नए प्रमाणों के आधार पर लिपि-प्रवेश का समय ईसा पूर्व दसवीं शताब्दी निर्धारित किया है।

लिपि के भेद-प्रभेद भी रहते आए हैं। 'ललित विस्तर' के अनुसार बुद्ध-काल में चौसठ लिपियां प्रचलित रही हैं और बुद्ध का अध्यापक विश्वामित्र से लिखना सीखना भी प्रसिद्ध है। शील, विनय तथा सुत्त-ग्रंथों में प्रसंग वश लिखने की चर्चा है। महावग्ग और कटाह जातक में लिखने, गिनने और फलक अर्थात पाटी का प्रयोग करने का वर्णन है। ब्राह्मी लिपि सर्वाधिक प्रमुख एवं प्राचीन समझी जाती है। पाणिनि के व्याकरण में भी 'लिपिकर' तथा 'लिबिकर' का उल्लेख मिलता है। उन्होंने जिस लिपि को 'यवनानी' बतलाया है वह कदाचित जैन सूचियों में सम्मिलित 'यवणालिय' अथवा 'यवणाणिय' से अभिन्न है। 'स्कंध पुराण' के काशी खड में 'विदेशजा लिपि' की चर्चा है।

ऋग्वेद से मूलतः संबद्ध 'वशिष्ठ धर्मसूत्र' वैदिक काल में भी लिखने की प्रणाली को सूचित करता है। उत्तर कालीन वैदिक साहित्य में तो अक्षर, कांड, पटल, ग्रंथ जैसे शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। ब्राह्मणादि ग्रंथों में अंकों और संख्यादि के प्रसंग आये हैं। व्यास मुनि ने 'महाभारत' का लेखक गणेश को बनाया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में लिपि, संख्या, ग्रंथ, अक्षर, लेखक और लेख-वाचन के उल्लेख हैं। वात्सायन 'कामसूत्र' में पुस्तक, पुस्तक-वाचन तथा पत्नी द्वारा दैनिक आय-व्यय का व्यौरा रखने की चर्चा है। 'मनुस्मृति' में भी लिखने का संकेत है। गंधर्वराज पुष्पदंत ने तो स्पष्ट ही 'महिम्न स्तोत्र' में लेखन-क्रिया तथा लेखन-सामग्री का परिचय दिया है। ग्रंथों के प्रति-लिपिकार भी हुआ करते थे। ऐसे लोगों में ब्राह्मण कायस्थ, भिक्षु और वज्राचार्यों के नाम आते हैं। इसके अतिरिक्त सिक्कों, शिलालेखों, काष्ठ-खंडों तथा विदेशी पर्यटकों के यात्रा-विवरणों आदि द्वारा भी लिखने के प्रमाण मिलते हैं।

प्राचीन ग्रंथ अधिकतर ताड़-पत्र अथवा भोज-पत्र पर लिखे जाते थे। कई शिलांकित ग्रंथ भी मिले हैं। कश्मीर शैवमत का 'शिवसूत्र' तथा ग्यारहवीं शताब्दी का रोला कृत 'राउलवेल' ऐसे ही ग्रंथ हैं। इनमें से पहला संस्कृत का तथा दूसरा भाषा-काव्य का है। ताड़-पत्र अथवा भोज-पत्र पर लिखित ग्रंथ सूत्र द्वारा ग्रथित रहते थे जिस कारण ये ग्रंथ कहलाये।

भारतीय ग्रंथों में प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद है जिसका संकलन-काल ईसा पूर्व ढाई हज़ार से लेकर ईसा पूर्व डेढ़ हज़ार तक समझा जाता है। लिपि-ज्ञान रहते भी यह आठवीं अथवा नवीं शताब्दी से पूर्व लिपिबद्ध न हो सका। ऐसा लगता है कि लिखने की प्रणाली कुछ विशेष प्रकार की रचनाओं तक ही सीमिति रही है।

महाक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनार वाले लेख १५० ई० के लिखे हैं। इन्हें अलंकृत संस्कृत गद्य-काव्य का सुंदर उदाहरण ठहराया जा सकता है। ताड़-पत्र पर लिखा जो ग्रंथ दूसरी शताब्दी का मिला है वह संस्कृत का है। यह नाटक का एक अंश मात्र है। खरोष्ठी लिपि में भोज-पत्र पर लिखित पालि का नहीं, प्राकृत धम्मपद है जो संभवतः तीसरी शताब्दी का है। खोतन प्रदेश में स्टेन को भोज-पत्र पर लिखा जो ग्रंथ मिला था वह 'संयुक्तागम' नामक बौद्धसूत्र है जिसका लिपि-

काल चौथी शताब्दी समझा जाता है। इसी काल का ताड़-पत्र पर लिखा एक खंडित ग्रंथ काशगर से मिला है। इस प्रकार के अन्य कई उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

इनके अतिरिक्त स्वर्ण-पत्र, रौप्य-पत्र और ताम्र-पत्र आदि पर भी लिखने की प्रथा रही है। तक्षशिला से बालक द्वारा पटिया पर लिखने वाली मूर्ति मिली है। वहीं के गंगू नामक स्तूप से प्राप्त स्वर्ण-पत्र ऐसा ही एक नमूना है जो खरोष्ठी लिपि में लिखा है। भट्टिप्रोलू से रौप्य-पत्र पाये गए हैं। जैन मंदिरों से भी रौप्य और ताम्र-पत्र मिले हैं।

ग्रंथ भी कई प्रकार के होते रहे हैं। पाणिनि ने मौलिक ग्रंथों का दो भेद किया है। उपज्ञात और अधिकृत्य कृत अथवा सामान्य ग्रंथ, अन्यत्र अनुकरणात्मक ग्रंथ-भेद का भी उल्लेख है। व्याख्या-ग्रंथ इनसे भिन्न होते थे। प्राचीन सामग्री से ग्रंथों के अन्य कई प्रकारों का पता चलता है।

ईसा की पांचवीं शताब्दी के कागज पर प्राचीन भारतीय लिपि में लिखित चार संस्कृत ग्रंथ वेबर को यारकंद के समीपस्थ कुगिअर से मिले थे। भारतवर्ष में सबसे पुराना कागज पर लिखा जो ग्रंथ पांडुलिपि के रूप में गुजरात से मिला है वह सन् १२२३-२४ ईसवी का है। बहुत दिनों तक लोगों की यह भ्रांत धारणा रही है कि कागज बनाने को हुनर भारतवासियों को बहुत पहले से मालूम नहीं रही है। इसे उन्होंने चीन वालों से सीखा था। परंतु यह धारणा सिकंदर के एक सेनापति निआर्कस् के लेख द्वारा निराधार साबित हुई। चीन में कागज पहले पहल १०५ ईसवी में बना था, जबकि निआर्कस् के प्रमाण के अनुसार भारत में उक्त समय से साढ़े चार सौ वर्ष पहले भी कागज बनाया जाता था। यह कागज रुई के चिथड़ों को कूट कर बनाया जाता था।

ताड़-पत्र को लिखने योग्य बनाने की प्रक्रिया रोचक थी। उसे सुखा कर उबाल दिया जाता था। फिर दुबारा उसे सुखा कर शंख अथवा चिकने पत्थर जैसी किसी वस्तु से 'गेल्हा' जाता था। जो कुछ लिखना होता था उसे लोहे की कलम द्वारा कुरेद कर उस पर स्याही लेप दी जाती थी जिससे खुदे गड्ढे भर जाते थे। इसके बाद ऊपर की अतिरिक्त स्याही पोंछ दी जाती थी। यह प्रणाली अधिकतर दक्षिण में प्रचलित थी। उत्तरी-भारत में भोज-पत्र पर ही लिखने की प्रथा अधिक प्रचलित थी। भोज-पत्र भूर्ज वृक्ष की छाल है जो हिमालय पर पाये

जाते हैं। इसकी छाल कागज जैसी होती है। इस पर लिखने की प्रणाली कागजपर लिखने जैसी थी। 'वर्णोद्धार तंत्र' तथा 'कामधेनु तंत्र' में वर्णों के अवयवों की चर्चा है। कभी-कभी धार्मिक अनुष्ठानादि के अवसर पर स्याही के स्थान पर रक्त-चंदन अथवा भैंसे के रक्त आदि से भी लिखने का काम लिया जाता था। परवर्ती काल में लिखावट के बीच-बीच में प्रसंगानुसार चित्रादि भी अंकित किये जाते रहे हैं। ग्रंथों के पृष्ठादि को अन्य प्रकार से भी अलंकृत करने की विधि रही है।

०

राष्ट्र-लिपि देवनागरी

भाषा की उत्पत्ति के साथ मनुष्य को भावाभिव्यक्ति का माध्यम तो मिल गया, किंतु उसके संचय एवं संरक्षण की सुविधा उसे लिपि के प्रादुर्भाव-काल के सहस्राब्दियों बाद ही हाथ लगी। भाषा तो पशु की भी अपनी होती है, किंतु लिपि के आधार पर वह मनुष्य से पृथक हो जाता है। मनुष्य की यह अत्यंत उत्कृष्ट उपलब्धियों में से एक है। संभव है मनुष्य ने किसी समय अपने उपयोग तथा अनुभव में आने वाली वस्तुओं के चित्रांकन द्वारा उनकी स्मृति सुरक्षित रखने का प्रयास किया हो। उत्तर-पाषाणकालान मित्ति-चित्रों में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं।

संभवतः वस्तु-बोध कराने के लिए ही चित्र-लिपि की उत्पत्ति हुई थी। इसके द्वारा आख्यान भी प्रस्तुत किये जाते थे। परंतु इसमें प्रयुक्त प्रतीक जहां अर्थ-बोध कराते थे, वहां उनमें ध्वनि-बोध का अभाव-सा था। उनके द्वारा अधिक से अधिक भावाभिव्यक्ति के साथ उनका संरक्षण तक हो पाता था। इसके प्रयोग प्रायः सभी देशों में पाये जाते हैं।

चित्र-लिपि से भिन्न भाव-लिपि है। इसमें वस्तुओं की आकृति से अधिक उनके द्वारा उद्भूत संबद्ध भावों पर बल दिया जाता है। इसमें वस्तु की संपूर्ण आकृति की अपेक्षा नहीं होती। अंग-विशेष की चेष्टाओं के अंकन द्वारा उसका आभास करा दिया जाता है। अश्रुपात द्वारा वेदना, आलिंगन द्वारा प्रेम और सशस्त्र आमने-सामने का डटना युद्ध के भाव प्रदर्शित करते हैं।

परंतु चित्र-लिपि अथवा भाव-लिपि में उनके लिए उच्चरित ध्वनियों का समावेश नहीं होता। इसलिए ध्वनि-लिपि द्वारा ही भाषा की प्रेषणीयता सार्थक होती है। लिपि के इतिहास में इसका स्थान सर्वोपरि है। इसमें लिपि और भाषा परस्पर प्रतिरूप बन जाते हैं। इसके दो भेद हैं: अक्षरात्मक तथा वर्णात्मक। प्रथम में व्यंजनों के साथ स्वर-चिह्नों को लगाने की प्रक्रिया है और द्वितीय में प्रत्येक वर्ण ध्वनि का प्रतीक है। इसके आविष्कार से शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में

उल्लेखनीय परिणाम निकले हैं। मुद्रणालयों में जो तकनीकी परिवर्तन आये हैं उनसे साहित्य-सर्जन और उनके प्रकाशन की गति तीव्र हो गई है।

ब्राह्मी, खरोष्ठी और सिंधु घाटी का लिपियां भारत की प्राचीनतम लिपियां हैं। सिंधु घाटी की लिपि का पता लगभग पचास वर्ष पूर्व तक न था। चीनी परंपरा के अनुसार ब्राह्मी और खरोष्ठी का उद्गम-स्थान भारत भूमि है। परंतु सिंधु-सभ्यता-काल से ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी तक का इतिहास तिमिराच्छन्न होने के कारण सिंधु-लिपि और ब्राह्मी-लिपि को परस्पर संबद्ध करना असंभव प्राय रहा है।

ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों में मत-वैभिन्य है। कुपेरी उसे यदि चीनी-लिपि से उत्पन्न मानते हैं तो सेनार्ट तथा प्रिंसेप उसका नाता ग्रीक-लिपि से जोड़ते हैं। फिर वेबर जैसे विद्वान उसे फोनिशियन-लिपि से विकसित बतलाते हैं। थामस, ब्राउन, शामशास्त्री, राजबली पांडेय आदि ने भी इस पर विचार किया है, किंतु कोई सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं निकल सका है। 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' के विद्वान लेखक गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा का मत है, "जितने प्रमाण मिले हैं, चाहे शिलालेख के अक्षरों की शैली और चाहे साहित्य के उल्लेख, सभी यह दिखाते हैं कि लेखन-कला अपनी प्रौढ़ावस्था में थी...उसके प्रारंभिक विकास का पता नहीं चलता।" परंतु प्रसिद्ध भाषाविद् भोलानाथ तिवारी ने छानबीन तथा परीक्षण के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि ब्राह्मी-लिपि सिंधु-लिपि से विकसित है। इस लिपि का प्रचलन उत्तर में कालसी, दक्षिण में सिद्धपुर, पश्चिम में गिरनार और पूर्व में धौली तथा जांगड़ (उड़ीसा) तक विस्तृत रहने के प्रमाण मिलते हैं। यही नहीं इसका प्रयोग बृहत्तर भारत तक में होता था।

ब्राह्मी-लिपि के प्रयोग कई रूपों में मिलते हैं : ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में शुंग-लिपि, प्रथम-द्वितीय शताब्दी में कुषाण-लिपि और पांचवीं शताब्दी में गुप्त-लिपि। फिर गुप्त-लिपि का विकास दो रूपों में हुआ; पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी रूप का विकास बंगला लिपि में हुआ जिसका विस्तार हम उड़िया तथा असमिया लिपि में पाते हैं। इसी प्रकार पश्चिमी रूप का विकास शारदा लिपि में हुआ। गुरुमुखी और टाकरी आदि इसी की उपज हैं। इस गुप्त-लिपि से ही कुटिल या सिद्ध

मातृका-लिपि विकसित हुई जिसे हम देवनागरी लिपि के मूल में पाते हैं। दक्षिण की पल्लव-लिपि भी ब्राह्मी-लिपि की देन है। पल्लव-लिपि से ही ग्रंथ, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम लिपि का विकास हुआ। तमिल प्रदेश में संस्कृत लिखने में ग्रंथ-लिपि का व्यवहार होता। इस प्रकार भारतीत लिपियां परस्पर संबद्ध हैं।

फ़ारसी और रोमन लिपियों का प्रचलन भारतवर्ष में भी पाया जाता है। ये दोनों ही लिपियां विदेशी तथा विजातीय हैं। फ़ारसी लिपि का प्रचलन यहां मुस्लिम शासन-काल में आरंभ हुआ था। मुस्लिम दरबार के संपर्क और सान्निध्य में आकर यह उर्दू की लिपि भी बन गई। रोमन लिपि भी ब्रिटिश शासन-काल में अंग्रेजी के साथ यहां प्रवेश पा गई। कुछ भाषाएं ऐसी भी है जिनकी अपनी कोई लिपि नहीं है। अतएव ये अपनी अपनी लिपि का आविष्कार करने के लिए यत्नशील हैं। फिर भी देवनागरी को ही अपनाने की प्रवृत्ति घर करती जा रही है। अरुणांचल प्रदेश इसका एक उदाहरण है।

भारतवर्ष में विभिन्न लिपियों के प्रचलन रहते भी देवनागरी लिपि के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं। इस लिपि का प्रयोग अतिरिक्त लिपि के रूप में कई स्थानों पर पाया जाता है। सातवीं शताब्दी के दाक्षिणात्य राष्ट्रकूट राजाओं के कई शिलालेखों में देवनागरी का प्रयोग मिला है। इसी शताब्दी के गौड़ राजा शशांक के सिक्कों पर देवनागरी अंकित है। पल्लव राजाओं के सातवीं शताब्दी वाले जो शिलालेख मिले हैं उनमें ग्रंथ तथा तमिल लिपि के अतिरिक्त देवनागरी के प्रयोग भी मिले हैं। चोल राजाओं के सिक्कों पर भी देवनागरी लिपि के प्रमाण पाये जाते हैं। इसी प्रकार आठवीं शताब्दी के चालुक्य राजाओं के शिलालेखों में कन्नड़ लिपि के साथ देवनागरी लिपि का व्यवहार मिलता है। श्रवणबेलुगोला के दसवीं-ग्यारहवी शताब्दी वाले शिलालेखों में ग्रंथ, कन्नड़ और देवनागरी तीनों लिपियों के प्रयोग मिले हैं, विजयनगर राज्य में 'नंदि-नागरी' के नाम से देवनागरी प्रयुक्त हुई थी और यही वहां की प्रमुख लिपि थी। ताम्र-पत्रों में प्रयुक्त लिपि के ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं। पंद्रहवीं शताब्दी के पश्चात यह प्रवृत्ति सामान्य रूप में पायी जाती है। अठारहवीं शताब्दी में तंजोर के मराठे शासकों ने देवनागरी लिपि को सर्वतोभावेन स्वीकार कर लिया था।

मध्यकालीन मुस्लिम शासकों ने यद्यपि फ़ारसी लिपि को बढ़ावा

दिया तथापि लोक प्रचलित देवनागरी को उनके द्वारा संरक्षण मिला। महमूद गज़नवी ने अपने सिक्कों पर अरबी कलमा का संस्कृत अनुवाद 'अव्यक्तनेक पुरुष अवतार मुहम्मद' को देवनागरी में स्थान दिया। इसी प्रकार बारहवीं शताब्दी के मुहम्मद बिन साम के सिक्कों पर 'श्रीमदहमीर महमद साम', तेरहवीं शताब्दी के शम्सुद्दीन अल्तमश के सिक्कों पर 'सरितन श्री समासदीन', मुइजुद्दीन कैकुबाद के सिक्कों पर 'सुल्तां मुइजुद्दी' और गयासुद्दीन बलबन के सिक्कों पर देवनागरी में टंकित है। शाहंशाह अकबर के एक सिक्के पर 'रामसीय' का प्रयोग देवनागरी लिपि में पाया जाता है। इस प्रकार भाषा तथा लिपि के प्रयोग दो रूपों में पाये जाते हैं : एक दरबारी और दूसरा लोक प्रचलित। मुस्लिम शासकों ने लोक प्रचलित हिंदी और देवनागरी को अपना कर जिस उदारता एवं दूरदर्शिता का परिचय दिया है वह आज भी अनुकरणीय है।

भारतीय संविधान में देवनागरी को यद्यपि राष्ट्र-लिपि के पद पर प्रतिष्ठित किया गया है तथापि कुछ राजनीतिक क्षेत्रों में इसके साथ-साथ फ़ारसी लिपि को भी बलात बढ़ावा दिया जाने लगा है। यह स्पष्ट ही स्वीकृत संविधान की उपेक्षा एवं उल्लंघन है।

नागरी लिपि के नामकरण के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान बौध ग्रंथ 'ललित विस्तर' में वर्णित नाग-लिपि से इसे अभिन्न मानते हैं, किन्तु बार्नेट जैसे विद्वान इससे असहमत जान पड़ते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग इसे यदि गुजराती नागर ब्राह्मणों से संबद्ध बतलाते हैं तो दूसरे इसका संबंध नगर से जोड़ते हैं। जो हो, देवनागरी का 'देव' शब्द देव-वाक् संस्कृत के परिणाम स्वरूप नागरी से जुड़ा प्रतीत होता है। इस लिपि का प्रयोग संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, मराठी और नेपाली में भी पाया जाता है। यह लिपि मध्यदेशीय होने के कारण ब्राह्मी-परिवार की है और अनायास ही उसकी परंपरा से जुड़ जाती है। सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक में यह भारत की बहु-स्वीकृत लिपि बन चुकी थी।

यह निर्विवाद है कि बहु-भाषी राष्ट्र के लिए जिस प्रकार एक राष्ट्र-भाषा की अनिवार्यता है, उसी प्रकार बहु-लिपि वाले राष्ट्र के लिए राष्ट्र-लिपि की भी आवश्यकता है। अन्य भारतीय लिपियों की तुलना में देवनागरी लिपि राष्ट्र लिपि बनने में अधिक सक्षम एवं समर्थ है। भारतवर्ष में जिन लिपियों का प्रचलन है उनमें देवनागरी से परिचित

लोगों की सख्या सर्वाधिक है। देवनागरी के जानकार १५ प्रतिशत हैं और बंगला, उड़िया, तमिल, तेलुगु आदि लिपियों से परिचित लगभग ७ प्रतिशत। रोमन लिपि के जाननेवाले ३ प्रतिशत से अधिक नहीं हैं। इतिहास, पुरातत्व एव प्राचीन साहित्य, संस्कृति के अध्ययन के लिए देवनागरी लिपि के ज्ञान की अनिवार्यता सदैव बनी रहेगी।

फिर भी राष्ट्र-लिपि में अन्य भाषाओं की ध्वनियों को समाहित करने की क्षमता एवं सामर्थ्य की अपेक्षा है। कम-से-कम भारतीय भाषाओं के देवनागरी में लिपि-बद्ध करने के लिए अपेक्षित लिप-चिह्न होने चाहिए। परंतु किसी भी लिपि के लए ऐसा कर पाना न तो शक्य है, न सभव। इसलिए बहु-प्रयोग की संभावनाओं को स्वीकार कर लेना चाहिए। अधिक-से-अधिक देवनागरी लिपि को हम विशिष्ट चिह्नों के आधार पर ध्वन्यात्मक रूप दे सकते हैं। इस प्रकार के प्रयास आरंभ भी हो चुके हैं।

देवनागरी लिपि अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण हमारा ध्यान बरबस आकर्षित कर लेती है। कई कमियों के रहते भी वह अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी तथा वैज्ञानिक है। किसी वर्णमाला का वर्गीकरण उतना वैज्ञानिक नहीं है जितना देवनागरी का। जिस ध्वनि के लिए जो लिपि-चिह्न व्यवहृत होता है वही उसकी संज्ञा रहती है। एक ध्वनि के लिए एक लिपि-चिह्न किसी भी लिपि के लिए बहुत बड़ी विशेषता है जो इस लिपि में पायी जाती है। इस दृष्टि से ऋ-लृ जैसी मूल लिपियों को पुनः ग्रहण कर लेना चाहिए और कुछ अन्य आवश्यक लिपियों का आविष्कार भी कर लेना चाहिए।

एक लिपि-चिह्न में एक से अधिक ध्वनियाँ को व्यक्त करने का दोष देवनागरी लिपि में नहीं है जैसा कि रोमन और फ़ारसी लिपि में पाया जाता है। शब्दों के बर्ण-विन्यास (बर्तनी) के लेखन तथा उच्चारण में यह अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक है। उर्दू तथा अंग्रेजी शब्दों की बर्तनी और उच्चारण में यह समानता अधिक नहीं है। इस असमानता से क्षुब्ध होकर ही जार्ज बर्नडिशा ने अपनी संपत्ति का एक अच्छा अंश रोमन लिपि को सुधारने के लिए दे दिया था। इसके आधार पर एक लिपि-विशेषज्ञ ने रोमन लिपि में कुछ परिवर्तन लाने का उद्योग भी किया था। इधर 'क्वीट स्क्रिप्ट' भी इस असमानता को दूर करने के तैयार कर ली गई है। रोमन लिपि की इस अपूर्णता के कारण वहां

वर्णमाला में कुछ परिवर्तन लाने के अन्य प्रयास भी हुए हैं। अभी तक चालीस से ऊपर ध्वनि वाली अंग्रेजी में छब्बीस लिपि-चिह्नों से काम चलाना पड़ता है।

नव विकसित ध्वनियों को छोड़ कर शेष के लिए देवनागरी अधिक पूर्ण तथा पर्याप्त है। यह सुविधा रोमन अथवा फ़ारसी लिपि में सुलभ नहीं है। वहां दो लिपि-चिह्नों को मिला कर लिखना पड़ता है। लिपि-चिह्नों की दृष्टि से यह रोमन तथा फ़ारसी-लिपि से अधिक समृद्ध है। दो लिपि चिह्नों के योग से एक ध्वनि को व्यक्त करना अवैज्ञानिक है। देवनागरी लिपि में स्वतंत्र स्वर के लिए पूर्ण वर्ण-चिह्न का प्रयोग होता है, किंतु व्यंजन के साथ ऐसा नहीं होता है। वहां 'अ' को छोड़कर शेष के लिए मात्रा-रूप प्रयोग में जाता है। सुपाठ्यता की दृष्टि से भी देवनागरी लिपि अधिक वैज्ञानिक है।

इस प्रकार देवनागरी लिपि सर्वथा ग्राह्य एवं स्वीकार्य है। भावात्मक एकता की दृष्टि से भी भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि का होना अनिवार्य एवं आवश्यक है। सन् १९६१ ईसवी में इस विषय पर विचार करने के लिए मुख्य मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ था। उसमें उन्होंने देवनागरी लिपि को ही स्वीकार किये जाने का सुझाव दिया था। विनोबा भावे का भी मत है कि देश की एकता एवं सुदृढ़ता के लिए देवनागरी लिपि को अपना लेना चाहिए।

नागरी आंदोलन के प्रवर्तक न्यायाधीश शारदाचरण मित्र थे। महर्षि दयानंद ने भी केशवचंद्र सेन की प्रेरणा से देवनागरी को ही अपने प्रचार का माध्यम चुना था। सन् १९०५ ईसवी में लोकमान्य तिलक ने देवनागरी लिपि को अपनाने का सुझाव दिया था। वी० कृष्ण स्वामी अय्यर ने भी एक लिपि-सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में सन् १९१० ईसवी में देवनागरी लिपि को स्वीकार करने की अपील की थी। गांधी, नेहरू और टंडन भी इसके समर्थक थे। महाकवि कालिदास ने अपनी कृति 'रघुवंश' (३।२८) में बहुत पहले ही लिखा था, "लिपि का यथोचित अध्ययन करने से समस्त वाङ्मय का ज्ञान उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार नदी के द्वारा समुद्र तक पहुंचना।"

भारतवर्ष में मुद्रण और प्रकाशन का विकास-क्रम

ज्ञान-राशि को संचित कर उसे सुरक्षित रखने के साधनों में मुद्रण-प्रकाशन का विशिष्ट स्थान है। मुद्रण-कार्य का आरंभ पंद्रहवीं शताब्दी से पहले का नहीं है। जर्मनी निवासी जान जिस फ्लाइझूम गुटेनवर्ग (सन् १३९४-१४६८ ईसवी) ने सन् १४४० ईसवी के लगभग स्ट्रासबर्ग में मुद्रण-कार्य का प्रयोग किया और दस वर्षों में उसने सफलता प्राप्त कर ली। सन् १४५२ ईसवी में प्रकाशित बाइबिल मुद्रण-क्षेत्र की अपूर्व घटना है। इससे पहले विलियम ब्लैक आदि द्वारा लकड़ी खोद कर आवश्यक प्रक्रियाओं के माध्यम से पुस्तकों का मुद्रण हो चुका था। गुटेनबर्ग के देहावसान के पश्चात पंद्रह वर्षों के भीतर मुद्रण-कार्य का प्रसार समस्त युरोप में हो गया। जर्मनी का मेज नगर आधुनिक मुद्रण-कार्य का प्रारंभिक केंद्र बना। युरोपीय अंचलों में कालक्रमानुसार मुद्रण-कार्य आरंभ होने का विवरण इस प्रकार है :

सन् १४६७ ईसवी में रोम, सन् १४६९ ईसवी में वेनिस, सन् १४७० ईसवी में पेरिस नूरेनबर्गयूट्रेक, सन् १४७१ ईसवी में मिलन, नेपल्स, फ्लोरैंस; सन् १४७२ ईसवी में कोलोन, सन् १४७३ ईसवी में लायंस; वैलैंशिया, बुडापेस्ट; सन् १४७४ ईसवी में क्रेकों, बुगेस; सन् १४७५ ईसवी में लबेक, ब्रेस्लो; सन् १४७६ ईसवी में वेस्ट मिनिस्टर, रोस्टाक; सन् १४७८ ईसवी में जेनेवा, पालेमो, मेसिना; सन् १४७९ ईसवी में आक्सवर्ग, सन् १४८० ईसवी में लंदन, सन् १४८१ ईसवी में एँटवर्प, लाइपजि़ग; सन् १४८२ ईसवी मे ओडेंस और सन् १४८३ ईसवी में स्टाकहोम।

उन दिनों टाइप ढलवाने से लेकर ग्राहक तक पुस्तक पहुंचाने का दायित्व मुद्रण-व्यवसाय के अंतर्गत माना जाता था। कागज बनाने और जिल्दबंदी का कार्य आरंभ से ही मुद्रण-कार्य से पृथक था।

भारतवर्ष में मुद्रण-कार्य आरंभ करने का श्रेय युरोपीय मिशनरियों को है जिसका श्रीगणेश समुद्र-तटवर्ती नगरों से हुआ। गोवा का इनमें

प्रथम स्थान था। जेसुइट मिशनरियों द्वारा द्वारा गोवा के सेंट पाल कालेज प्रेस से सन् १५६० ईसवी में 'कंपेडिओ स्पिरिचुअल डा विडा क्रिस्टा' का मुद्रण-कार्य संपन्न हुआ जिसकी एक प्रति न्यूयार्क पब्लिक लाइब्रेरी में सुरक्षित है। इसके तीन वर्ष बाद की मुद्रित 'कलोकिअल सिपेलस एड्रोगाज़' नामक पुस्तक की प्रति ब्रिटिश म्यूजियम में उपलब्ध है। इस प्रेस से इतालवी अथवा पुर्तगाली भाषा की पुस्तकें मुद्रित होती थीं। सन् १६१६ ईसवी में रायतूर के सेंट इग्नेशस कालेज के प्रेस से स्टिफेंस ने 'क्राइस्ट पुराण' प्रकाशित कराया जिसकी कोई प्रति आज उपलब्ध नहीं है। इसी प्रेस से सन् १६३४ ईसवी में 'सेंट पीटर पुराण,' सन् १६४० ईसवी में 'आर्ते द लिंगुआकनारिम,' सन् १६२२ ईसवी में डोट्रिना क्रिस्टा का मुद्रण हुआ और यह क्रम कई वर्षों तक चलता रहा। परंतु इन प्रेसों ने भारतीय लिपियों में मुद्रण-कार्य नहीं किया। इसलिए इसे सही अर्थ में भारतीय मुद्रण-कार्य का प्रारंभिक बिंदु नहीं ठहरा सकते।

भारतवर्ष में जो सर्वप्रथम पुस्तक मुद्रित हुई वह ज़ेवियर लिखित 'डाक्ट्रिना क्रिस्टाओ' का सन् १५५७ ईसवी में मुद्रित पुर्तगाली भाषानुवाद है। इसकी एक मलाबार-तमिल की प्रति पेरिस के बिब्लियोटेक नासियोनाल में सुरक्षित है जिसका नाम 'क्रिस्टया वन्नकनम्' है। सन् १५७७ ईसवी में जोन्नेस गोसाल्वेज द्वारा त्रिचूर के निकटवर्ती स्थान अंबलक्कदु में मलाबारी टाइप का निर्माण हुआ जिसका उपयोग तमिल पुस्तकों के मुद्रण में हुआ करता था। इग्नेशंस एकामनी ने तमिल-पोर्चुगीज़ कोश के लिए तमिल टाइप तैयार किया था, किंतु तमिल का सही टाइप बारथ्लम्यू जिगेनबल्ग के प्रयासों द्वारा माना जाना चाहिए जिसने सन् १७०८ से १७११ ईसवी के बीच तीन वर्षों में बाइबिल का अनुवाद कर तमिल टाइप का निर्माण कराया। गोवा में मुद्रित सामग्री का अधिकांश टीपू सुल्तान के आक्रमणों द्वारा नष्ट हो गया।

सन् १६६७ ईसवी में अथानासी किर्चरी लिखित 'चाइना इलस्ट्रेसा' पहली ज्ञात पुस्तक है जो नागरी लिपि में मुद्रित हुई और जिसकी एक प्रति कलकत्ता के राष्ट्रीय ग्रंथालय में उपलब्ध है। परंतु नागरी टाइप का जन्म-स्थान युरोप बना। उक्त पुस्तक का मुद्रण एम्सटरडम में हुआ जहां से एक अन्य पुस्तक 'होर्ट्स इंडिक्स मलाबारी कम' सन् १६७८ ईसवी

में छपी। ये दोनों पुस्तकें ब्लाक मुद्रण-पद्धति के नमूने हैं। इसके भूमिका भाग में संस्कृत की ग्यारह पंक्तियां भी नागराक्षरों में हैं। बेंक्ट्रियानी में भी वारों और महीनों आदि के नाम नागरी में मिल जाते हैं जो ब्लाक द्वारा नहीं, टाइप द्वारा मुद्रित है। यहां पर भाषा को ब्राह्मण भाषा कहा गया है। परंतु इनके टाइप सुंदर नहीं, भद्दे हैं।

शुल्बी रचित 'ग्रामेटिका हिंदोस्तानिका' की भूमिका में देवनागरी-कार शब्द का प्रयोग मिलता है जहां व्यंजन के अंतर्गत 'क' से 'ह' तक नागरी अक्षरों का उपयोग किया है। सन् १७७१ ईसवी में रोम से 'एल्फाबेटम ब्राह्मणीकम सिउ इंदोस्तानम उनवर्सिटाटिस' का प्रकाशन गियोवानी क्रिस्टोफोरो अमादुजी और कैसियानस बेलिगत्ती ने कराया था जिसकी प्रतियां कलकत्ता के राष्ट्रीय ग्रंथालय और बंबई के एशियाटिक सोसाइटी में देखी जा सकती हैं। इसमें भाषा के लिए 'बखा' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसमें वाराणसी और उसकी समीपवर्ती भाषा भोजपुरी पर लिखी पहली प्रकाशित पुस्तक है। इसमें चल-टाइप का प्रयोग कदाचित पहली बार हुआ है जिसके अंतिम भाग में वर्णमाला, बारहखड़ी तथा व्याकरण बतलाया गया है और सात-आठ पृष्ठों में गद्य का उदाहरण भी प्रस्तुत किया गया है। इसे हिंदी का प्रथम प्रारंभिक व्याकरण मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। केटलियर प्रणीत हिंदुस्तानी ग्रामर सन् १४७३ ईसवी की परवर्ती रचना है। अमादुजी की पुस्तक में प्रयुक्त टाइप आकार में बड़ा होने पर भी सन् १८०२ ईसवी में निर्मित भारतीय नागरी टाइपों की बराबरी करते हैं।

चार्ल्स विल्किंस (सन् १७५०-१८३६ ईसवी) ने नैथेनिपल ब्रेसी हालहेड रचित 'ग्रामर आफ बंगाली लैंग्वेज' के मुद्रण के लिए पहले पहल बंगला टाइप बनाया। ये भारतीय विद्या में रुचि रखने वाले ईस्ट-इंडिया कंपनी के उच्चाधिकारी थे और हालहेड (सन् १७५१-१८३० ईसवी) भी कंपनी में काम करते थे। उक्त पुस्तक हुगली प्रेस में लगी थी जिसके मालिक एंड्रयूज़ थे। इस पुस्तक के प्रकाशन का उद्देश्य कंपनी के विदेशी कर्मचारियों को बंगला का अभ्यास कराना था। इससे पूर्व सन् १७४३ ईसवी में बंगला व्याकरण का मुद्रण पुर्तगाल में हो चुका था और सन् १७७२ ईसवी में जार्ज हैडले लिखित 'मूर भाषा

का व्याकरण लंदन से प्रकाशित हुआ था। परंतु इन दोनों पुस्तकों का मुद्रण न तो भारत में हुआ, न इनमें प्रयुक्त लिपियां ही भारतीय रहीं। बंगला और नागरी टाइपों के निर्माताओं में चार्ल्स विल्किस और उसके सहयोगी पंचानन कर्मकार का नाम आदर पूर्वक लिया जाता है। कर्मकार ने अन्य भारतीय लिपियों के लिए भी टाइप का निर्माण किया। विल्किस कृत संस्कृत व्याकरण का प्रकाशन लंदन से सन् १८०८ ईसवी में हुआ था जिसमें प्रयुक्त नागरी टाइपों की सुंदरता बहुत दिनों तक चर्चा का विषय बनी रही। नागरी टाइपों का जन्म-स्थान हुगली और श्रीरामपुर है, कलकत्ता नहीं।

सन् १७९८ ईसवी में कलकत्ता की टाइप फाउंड्री का विज्ञापन पढ़ कर विलियम केरे पंचानन कर्मकार की ओर आकर्षित हुए और पंचानन के पड़ोसी संस्कृत विद्वान कोलब्रुक से उसे मांगा। बैप्टिस्ट मिशनरी केरे अपने श्रीरामपुर प्रेस में पंचानन को रखना चाहते थे। परंतु अधिक वेतन का प्रलोभन देने पर भी केरे सफल न हुए। कोलब्रुक उसे अलग करने के लिए किसी प्रकार सहमत न हो सके। अंततोगत्वा केरे ने उसे कुछ दिनों के लिए उधार लेने में सफलता प्राप्त की और अपने यत्न तथा व्यवहार से उसे अपना बना लिया। कोलब्रुक उसे उपाय करके भी वापस न ले सके। पंचानन का भतीजा मनोहर भी अपने चाचा से पीछे न रहा। फलस्वरूप मिशन प्रेस चालीस वर्षों तक प्रायः सभी भारतीय लिपियों के टाइप का प्रमुख केंद्र बना रहा। श्रीरामपुर से पहले पहल इंगलैंड का टाइप मंगाने का असफल यत्न किया गया था। फिर वहीं पर टाइप फाउंड्री की स्थापना कर बंबई तक की मांग की पूर्ति की जाती रही।

बंबई में भीम जी परेख ने सन् १६७४-७५ ईसवी में प्रेस-स्थापना का यत्न किया, किंतु उचित सहयोग के अभाव से वह सफल न हो सका। इसके प्रायः तीन वर्ष बाद की ब्लाक-प्रणाली से लैटिन में मुद्रित पुस्तक 'हीर्ट्'स इंडिक्स मलाबारीकम' प्रकाशित हुई जिसके प्रेस का पता नहीं चलता। कुशल कूटनीतिज्ञ नाना फड़नवीस ने मीरज के शासक गंगाधर राव गोबरधन पटवर्धन के सहयोग एवं सहायता लेकर ब्लाक-प्रणाली से सन् १८०५ ईसवी में 'गीता' का प्रकाशन कराया जो आज मीरज के संग्रहालय में सुरक्षित है।

भारतीय भाषा का प्रथम प्रेस स्थापित करने की सूझ फरदुन जी मर्जबान की है जहां से मराठी पंचांग का मुद्रण हुआ था। सन् १८१६ ईसवी में अमेरिकन मिशन प्रेस ने पहले पहल टाइप द्वारा मुद्रण-कार्य आरंभ किया था। ईस्ट इंडिया कंपनी का कर्मचारी टामस ग्रेहम ग्रीव्ज की प्रेरणा प्राप्त कर सन् १८३५ ईसवी में प्रेस के तत्कालीन व्यवस्थापक विलियम सी. सैंप्सन ने अमेरिका आर्डर भेज कर टाइप मंगवाया, क्योंकि श्रीरामपुर टाइप फाउंड्री से उपलब्ध टाइप पूरा नहीं पड़ता था। फिर एलिजा ए. वेब्सटर के सहयोग से सन् १८३८ ईसवी में वे बंगाल से अच्छा टाइप तैयार करने में सफल हुए जहां नागरी तथा गुजराती टाइप स्वतंत्र रीति से बनने लगे। गुजराती टाइप बनाने का श्रेय ग्रेहम के शिष्य जीवनवल्लभ को है। इनके एक अन्य निपुण सहयोगी रामजी भी थे जिन्होंने गणपत कृष्ण जी के लीथो प्रेस को टाइप प्रेस में परिवर्तित किया। लीथो प्रणाली का सूत्रपात सन् १७९६ ईसवी में स्टीनफेल्डर द्वारा हुआ था जो अपने सस्तेपन के कारण हिंदी-क्षेत्र में कुछ पहले ही प्रचलित हो गया।

सन् १८६४ ईसवी में निर्णय सागर प्रेस के संस्थापक स्वामी जावजी दादाजी ने ग्रेहम से प्रशिक्षण पाकर एक टाइप फाउंड्री की स्थापना की जहां राजू जी रावजी ने नागरी और गुजराती के सुंदर टाइपों का निर्माण किया जो बंगाल में निर्मित टाइप से कहीं बढ़ कर निकले सन् १८१३ ईसवी में जान शेक्सपियर रचित 'हिंदुस्तानी ग्रामर' का प्रकाशन हुआ जिसमें पंचतंत्र की कहानी के दो पृष्ठ नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा में मुद्रित हुए। वह लंदन से प्रकाशित नागरी लिपि का कदाचित प्रथम उदाहरण है जिसकी सुंदरता की बराबरी तत्कालीन टाइपों में अन्यत्र दुर्लभ है। इसकी तुलना में सन् १८०८ ईसवी में प्रकाशित विल्किंस प्रणीत संस्कृत व्याकरण अत्यंत साधारण कोटि का है। नागरिक टाइप का सर्वोपरि नमूना निर्णय सागर प्रेस द्वारा निर्मित हुआ जो अपने रूप और गुण में अद्वितीय रहा। इसलिए इसकी मांग सर्वाधिक रही है। नागरी टाइप का स्वतंत्र विकास मिशन प्रेस और निर्णय सागर प्रेस के माध्यम से हुआ।

नागराक्षरों में लिखित मराठी की पहली पुस्तकें श्रीरामपुर प्रेस में मुद्रित हुईं। केरे द्वारा लिखित अथवा संपादित पुस्तकें क्रमशः सन् १८०५ ईसवी से सन् १८१० ईसवी और १८१४ ईसवी में मोड़ी या नागरी

लिपियों में मुद्रित हुए जिनके नाम 'मराठी भाषा का व्याकरण,' 'मराठी-अंग्रेजी कोश' और 'सिंहासन बत्तीसी' हैं। विल्किस की टाइप फाउंड्री इंगलैंड से बंबई के कूरियर प्रेस में नागरी के टाइप मंगा कर सन् १८२३ ईसवी में 'विदुर नीति' और सन् १८२४ ईसवी में 'सिंहासन बत्तोसी' का मुद्रण हुआ। अठारहवीं शताब्दी तक अच्छी टाइप फाउंड्री के अभाव में मुद्रण-कार्य भलीभांति पनप न सका।

सन् १८४० ईसवो में मिशन प्रेस की प्रेरणा और प्रोत्साहन से गणपत कृष्ण जी ने सुनियोजित एवं व्यवस्थित कार्यारंभ किया। इस दिशा मे निर्णय सागर प्रेस के योगदान उल्लेखनीय हैं। वंगाल में नागरी लिपि की अपेक्षा बंगाली लिपि में टाइप तैयार करने की रुचि बढ़ी और बंबई में मराठी के लिए नागरी लिपि के टाइप विकसित किया जाने लगा।

गिलक्राइस्ट लिखित 'हिंदुस्तानी ग्रामर' सन् १८७६ ईसवी में क्रानिकल प्रेस कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। इसमें पहले पहल नागरी टाइप और हिंदो भाषा का प्रयोग हुआ है। सन् १८५७ ईसवी में ईस्ट इंडिया कंपनी के तत्कालीन कमांडर-इन-चीफ के सचिव विलियम कर्क पैट्रिक रचित 'वकव्युलरी पर्सियन, अरेबिक एंड इंगलिश ऐज हैव बीन इनकार्पोरेटेड इंटू द हिंदवी' लंदन में मुद्रित हुई थी जिसकी भूमिका में कहा गया है : "युरोप के लोग भ्रांतिवश हिंदवो, हिंदी या हिंदी प्रधान भाषा को 'मूर' कहते हैं।" कर्क पैट्रिक ने हिंदवी या हिंदी को 'मूर' भाषा बतलाया था। इसका पूरक भाग सन् १७९९ ईसवी में जोजेफ कूपर द्वारा कलकत्ता से प्रकाश में आया जिसमें नागरी को विस्तार पूर्वक समझाने का यत्न किया गया है। लेखक ने बलपूर्वक कहा है कि नागरी अक्षर में हिंदवी अथवा हिंदी लिखने की पूरी क्षमता है।

युरोप में हस्तलिखित ग्रंथों के अनुकरण पर पुस्तक का नाम, मुद्रण तिथि, मुद्रक और मशीन मैन के नाम मुद्रित होते थे। एशियाई हस्तलिखित ग्रंथों की शैली भी इससे अधिक भिन्न न थी। भारतीय मुद्रण-क्षेत्र में पुष्पिका के आधार पर प्रकाशन नहीं होते थे जो पुस्तक के अंतिम भाग में रहा करती थी। दिल्ली मेरठ और वाराणसी आदि से लीथो में मुद्रित पुस्तकों में पुष्पिका मिलती है जिसमें सन् १८४९-६० ईसवी के बीच प्रकाशित पुस्तकों में लेखक, लिपिक और संवतादि के उल्लेख पाये जाते

हैं। भारतवर्ष में मुद्रण-प्रकाशन कार्य युरोप के अनुकरण पर आरंभ हुआ था जिसमें आधुनिक शीर्षक-पद्धति का स्थान था, परंपरागत पुष्पिका प्रणाली का नहीं।

हिंदी में सन् १८०२ ईसवी के पहले की प्रकाशित कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है। हिंदी की पुस्तकें मुद्रित करने वाले तीन प्रेसों में हरकारु प्रेस सर्वाधिक प्रसिद्ध है जहां से बारह पृष्ठों की मिसकीन रचित मर्सिया नागरी टाइपों में मुद्रित हुई। सिंहासन बत्तीसा और माधोनल समकालीन मुद्रित हैं जो अधूरी ही छप सकी। इसी वर्ष सकुंतला का मुद्रण कलकत्ता गजट प्रेस से हुआ और मिरर प्रेस से वैताल पचीसी मुद्रित हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी कई दृष्टियों से अत्यंत उर्वरा रही। समस्त संसार के प्रसिद्धि प्राप्त इधर के आदमियों में से अधिकांश इसी शताब्दी की उपज हैं। इस शताब्दी की वैज्ञानिक उपलब्धियों ने जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। कर्म-क्षेत्र में नई-नई दिशाओं और विधाओं का उद्घाटन हुआ जिसके आलोक में नई दृष्टि और सृष्टि के द्वार खुल गए। धनी-निर्धन और सामंत-श्रमिक सभी में चेतना की नई लहरें हिलोरें मारने लगीं। अपनी-अपनी कर्तव्य-बुद्धि और कार्य-क्षमता के अनुसार सबमें नई दृष्टि और नए विचारों के कारण नई रीति से सक्रियता आ गई। इस प्रवृत्ति को बढ़ावा देने में मुद्रण-प्रकाशन का उल्लेखनीय योगदान रहा। शिक्षा-प्रसार के नये साधन हाथ लगे। इसी बीच समाचार-पत्रों और पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन आरंभ हुए और ये विचार और समाचार पहुंचाने के वाहक बन गए। इनके माध्यम से मनुष्य अपने को एक दूसरे का समीपी और दुख-सुख का भागीदार समझने लगा। फलस्वरूप प्रेस और प्रकाशन के कामों में रुचि बढ़ी और मुद्रण-प्रकाशन-कार्य विस्तार पाने लगा। विज्ञान ने गति, मात्रा और आकार-प्रकार में वृद्धि और परिष्कार किया। देश-काल की दूरी सिमट कर क्रमशः दूर होने लगी और नए संदर्भ में पुरानी व्यवस्थाएं शिथिल पड़ कर अनुपयोगी लगने लगीं।

नई चेतना का प्रभाव मुख्यतः दो दिशाओं में लक्षित हुआ। युरोपीय संपर्क के कारण यदि एक ओर हीन भावना का उदय हुआ तो दूसरी ओर नएपन को ग्रहण करने की ललक बढ़ी। प्रथम कोटि के लोगों ने आत्म-निरीक्षण-पद्धति अपना कर सुधार का मार्ग ग्रहण किया

और दूसरी श्रेणी के लोगों ने परिवर्तन का स्वागत कर नवीन प्रवृत्तियों को अग्रसर करने में योगदान दिया। परिणामतः पराधीनता के प्रति विद्रोह का नया स्वर मुखरित हुआ और राष्ट्रीयता तथा प्रजातंत्र की नई धारा ने जन-मानस को आप्लावित कर लिया और सफलता प्राप्ति के लिए संगठन तथा सामूहिक प्रयास की उपयोगिता का मूल्य एवं महत्व आंका जाने लगा।

चतुर्भुज मिश्र की ब्रजभाषा कृति प्रेमसागर अधूरे रूप में हिंदुस्तानी प्रेस से सन् १८०३ ईसवी में मुद्रित हुई। उसकी लोकप्रियता ने लल्लू जी लाल को खड़ीबोली में उसे रूपांतरित करने की प्रेरणा प्रदान की जो सन् १८०३ ईसवी में खड़ोबोली की प्रथम पुस्तक के रूप में मुद्रित हुआ और जिसका अंग्रेजी संस्करण भी शब्द-कोश सहित प्रकाशित हुआ। उसका प्रथम पूर्ण संस्करण सन् १८१० ईसवी के पश्चात छप सका। सन् १८०३ ईसवी में ही डब्ल्यू बी. बेली रचित हिंदुस्तानी और और डब्ल्यू. चेप्लिन लिखित 'सती होने की रीति' का मुद्रण हुआ जिसमें शुद्ध हिंदी का प्रयोग किया। इसके विपरीत जे. रोमर की पुस्तक 'हिंदुस्तानी' फ़ारसी बहुल रचना थी। सन् १८०५ ईसवी में हिंदुस्तानी प्रेस कलकत्ता से नागराक्षरों में विलियम हंटर रचित हिंदुस्तानी भाषा की बाइबिल, मोती राम लिखित माधोनल का मज़हर अली खां कृत हिंदी रूपांतर और लल्लू जी लाल तथा मज़हर अली कृत सुंदर कवि रचित सिंहासन बत्तीसी का हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त भी इक्के-दुक्के पुस्तकें इधर-उधर से छपती रहीं।

हिंदी और संस्कृत की पुस्तकों का मुद्रण करने वालों में खिदिरपुर का संस्कृत यंत्र सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसमें कभी-कभी बंगला की पुस्तकें भी छपती रहीं। मिर्जापुर निवासी बाबूराम सारस्वत ने कलकत्ता में सन् १८०६ ईसवी के लगभग एक प्रेस की स्थापना की जिसमें कोलब्रुक के प्रभाव से संस्कृत पुस्तकें छपने लगीं। सन् १८१५ ईसवी के आसपास लल्लू जी लाल ने इसे अधिकृत कर लिया। सन् १८ ४ ईसवी के पश्चात इसके अस्तित्व का परिचय नहीं मिलता। सन् १८०७ से १८२० ईसवी तक इस प्रेस से कई पुस्तकें मुद्रित हुई। कृष्णाचार्य जी ने हिंदी-मुद्रण का तीन युगों में वर्गीकरण किया है : सन् १८०१ ईसवी से सन् १८२२ ईसवी तक लल्लू जी लाल युग, सन् १८२२ से १८४४ ईसवी तक मिशन युग और सन् १८४५ से १८७० ईसवो तक शिव प्रसाद युग।

लल्लू जी लाल युग का विवरण पहले दिया जा चुका है। सन् १८१७ ईसवी में कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी की स्थापना हुई और पंद्रह वर्ष के भीतर इसकी कई शाखाएं देश भर में फैल गईं। सन् १८३९-४० ईसवी तक मिशनरियों द्वारा टाइप से मुद्रण-कार्य होता रहा। सोसाइटी ने आगरा में अपना एक प्रेस सन् १८३७ ईसवी में स्थापित किया। सन् १८२६ ईसवो में क्रिश्चियन ट्रैक्ट ऐंड बुक सोसाइटी की स्थापना कलकत्ता में हुई और उसकी एक शाखा सन् १८२९ ईसवी में वाराणसी में स्थापित हुई। सरकारी कामों के लिए भी मिशनरियों द्वारा संचालित प्रेसों का उपयोग किया जाता रहा। इन प्रेसों में मुख्यतः ज्ञान, विज्ञान की मौलिक तथा अनुदित पुस्तकें मुद्रित होती रहीं।

'बनारस अखबार' का मुद्रण सन् १८४४-४५ ईसवी से होने लगा था जिसकी लिपि नागरी और भाषा उर्दू प्रधान थी। सितारे हिंदी का उर्दू के प्रति झुकाव प्रसिद्ध है, किंतु वे नागरी लिपि के समर्थक थे। यह कहना सही नहीं है कि उन्होंने ऐसा अंग्रेजों की प्रेरणा से किया। उन्होंने 'सिक्खों का उदय और अस्त' नामक पुस्तक लिखी जिसका मुद्रण पहले पहल सन् १८५१ ईसवी में हुआ। उनके द्वारा कई पाठ्य पुस्तकें लिखीं और छापी गईं। सन् १८६७ ईसवी में उनकी 'हिंदी सेलेक्शंस' नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ था जिसका मुद्रण बनारस मेडिकल हाल प्रेस ने किया था। परवर्ती काल में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भाषा को नई दिशा और गति प्रदान की।

हिंदी-क्षेत्र में प्रेसों की स्थापना पहले पहल कब किसके द्वारा कहां हुई इसे ठीक-ठीक बतलाने का हमारे पास उपयुक्त साधन का अभाव है। जहां तक पता है सन् १८३२ ईसवी में एशियाटिक लीथोग्राफिक कंपनी कानपुर से गोसांई जी की पुस्तक 'रामायण' का मुद्रण हुआ था। इसके पूर्व हिंदी-हिंदुस्तानी सेलेक्शंस का मुद्रण सन् १८२७ ईसवी में एशियाटिक लीथोग्राफिक प्रेस से हुआ था जिसके प्रिंट लाइन में कानपुर के साथ कलकत्ता का भी उल्लेख है। सन् १८६८ ईसवो में व्याघ्रपाद प्रकाशक यंत्रालय अलीगढ़ से चौरासी वैष्णवन की वार्ता का लीथा से मुद्रण हुआ था। इस संदर्भ में अमेरिकन मिशन प्रेस लुधियाना भी उल्लेखनीय है जिसकी स्थापना सन् १९३६-३७ ईसवी में किसी समय हुई थो। इसके समकालीन स्कूल बुक सोसाइटी प्रेस का नाम बदल कर बाद में आगरा प्रेस हो गया था। इसके अतिरिक्त एक

अन्य मुद्रणालय सिकंदरा में भी सन् १८४० ईसवी में स्थापित हुआ। प्रेस्बिटेरियन मिशन सोसाइटी ने सन् १८३८ ईसवी में एक प्रेस इलाहाबाद में स्थापित किया जो सन् १८५० ईसवी तक चलता रहा और सत्तावन के विद्रोह में तहस-नहस हो गया। फिर जोजेफ वारेन की देखरेख में यह छोटे रूप में १२-१३ वर्षों तक चलता रहा। सत्तावन के विद्रोह की समाप्ति पर गवर्नमेंट प्रेस आगरा से हटा कर इलाहाबाद में लाया गया।

कलकत्ता में विद्यासागर द्वारा स्थापित संस्कृत पाठशाला प्रेस, नीमतल्ला गली का संवाद ज्ञान रत्नाकर प्रेस, सार सुधा निधि प्रेस, समाचार सुधा वर्षण प्रेस, कश्मीरी यंत्र, एजुकेशन प्रेस आदि हिंदी का मुद्रण-कार्य बराबर करते रहे। चर्च मिशन सोसाइटी कलकत्ता के विवरण के अनुसार कलकत्ता में सन् १७७० ईसवी के पूर्व किसी प्रेस की स्थापना न हो सकी थी।

वाराणसी के पुराने प्रेसों में लाइट प्रेस, चंद्रप्रभा प्रेस और मेडिकल हाल प्रेस के नाम गिनाये गए हैं। यहां टाइप प्रेस की अपेक्षा लीथो प्रेस अधिक संख्या में उपलब्ध थे। इनमें बनारस अखबार छापखाना, गणेश छापाखाना, दिवाकर छापाखाना, रामकुमार यंत्र, बुलानाला हरनारायण चंद्रशेखर प्रेस, मतवा मुफीद प्रेस, हरिप्रकाश यंत्र और सुल्तान हिंद यंत्र आदि अधिक प्रसिद्ध है।

मुंबई-उल्-उलूम प्रेस मथुरा से सन् १८६० ईसवी में 'सूर सागर' का प्रकाशन हुआ था। इसका एक अन्य नाम विद्योदय प्रेस भी था। परंतु इसका सबसे पुराना नाम मथुरा प्रेस ही बतलाया जाता है जिसके मालिक लाला रामनारायण थे। मेवा राम द्वारा स्थापित मथुरा प्रेस से नौरंग मजामीन नामक मासिक पत्रिका का मुद्रण होता रहा।

लखनऊ के गौरी प्रेस, मतवे शौकत जाफरी और नवल किशोर प्रेस की गणना पुराने प्रेसों में होती हैं। नवल किशोर प्रेस लीथो से आरंभ होकर टाइप की स्थिति तक पहुंचा था जिसकी हिंदी-सेवा महत्वपूर्ण है। नवल किशोर प्रेस के संस्थापक नवल किशोर भार्गव ने मतवा कोहनूर लाहौर में मुद्रण-कार्य का अभ्यास किया था।

मेरठ के प्रेसों में जियाई, हाशमी और दुरखशानी छापाखाना के नाम लिये जाते हैं जहां उर्दू और हिंदी का काम लीथो-प्रणाली से हुआ करता था। मुजफ्फरपुर में एक प्रेस की स्थापना प्रोटेस्टेंट विशप रिक

द्वारा हुई थी। इस प्रकार छोटे-मोटे प्रेसों का जाल संपूर्ण देश में फैलता चला गया। सन् १८५७ ईसवी के विद्रोह के बाद भारतीय चिंताधारा ने एक नया मोड़ लिया तथा दस वर्षों के भीतर मिशनरियों द्वारा संचालित प्रेसों की होड़ में भारतीय प्रेस आ खड़े हुए और धीरे-धीरे उन्हें पीछे छोड़ गए।

एच. एच. विल्सन सन् १७८६-१८६० ईसवी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था, "कंपनी के संपूर्ण क्षेत्र में प्रेसों की स्थापना हो चुकी है जिनके द्वारा समाचार-पत्रों में प्रकाशन, मिशनरियों का प्रचार-कार्य और शिक्षा विषयक कार्यों की पूर्ति विशेषतः संपन्न हो रही है।"

प्राचीन काल में भारतीय शिला-मुद्रण-पद्धति से कदाचित अपरिचित रहे और इस प्रकार कागजों पर छपाई की प्रक्रिया से भी अनभिज्ञ रहे। मिशनरियों ने पहले पहल मराठी में शिला-मुद्रण-प्रणाली का सूत्रपात किया। कृष्णा जी ने पत्थर के टुकड़ों पर अक्षर खोद कर लकड़ी के प्रेस से काम लेना आरंभ किया और कई रंगों को स्याहियां भी तैयार की। कालांतर में इन्होंने लोह-खंड प्रेस का निर्माण कर सन् १८३१ ईसवी से मराठी पंचांग छापना आरंभ किया। सन् १८५३ ईसवी से इन्होंने टाइप बनाने की ओर ध्यान दिया। अक्षरों को ढालने के लिए सांचे तैयार किये। विष्णु नारायण माडगांवकर ने सन् १८६३ ईसवी में अपनी पुस्तक 'मुंबई चें वर्णन' में लिखा है, "यह बड़े आनंद की बात है कि आज बंबई में अंग्रेजी, मराठी, हिंदुस्तानी और गुजराती मिला कर कमोबेश चालीस छापेखाने हैं। गुजराती दैनिक पांच और मासिक छह हैं। हिंदुस्तानी और पोर्चुगीज दनिक एक-एक हैं। इनके अतिरिक्त पाठ-शालाओं के लिए गुजराती और मराठी पुस्तकें प्रति मास मुद्रित होती हैं। अन्य प्रकार के प्रकाशन भी प्रकाशित हो रहे हैं जिनमें धर्मादि अनेक विषयों की पुस्तकें हैं। पादरी लोग प्रति वर्ष कई भाषाओं में पुस्तकें मुद्रित कर वितरित करते हैं। भायखला में एजुकेशन सोसाइटी प्रेस, किले में एक्सचेंज प्रेस और डोंगरी में गणपत कृष्ण जी प्रेस देखने योग्य है।" लगभग पचास वर्षों तक इससे मिलती-जुलती स्थिति बनी रहती आई।

भारतवर्ष में मुद्रण और प्रकाशन-कार्य प्रारंभिक अवस्था में मंद और मंथर गति से आरंभ हुआ था, किंतु वैज्ञानिक उपलब्धियों की प्रगति के साथ-साथ सुगम साधनों का विस्तार होता गया और मुद्रण-

प्रकाशन के स्तर तथा प्रकार का विकास होता गया। जो काम हाथों की सहायता से होने लगे थे, उनका स्थान यंत्रों ने लिया और स्व-चालित यंत्रों द्वारा कार्य किया जाने लगा।

पचास वर्षों के भीतर विद्युत-प्रवाह ने गति में अप्रत्याशित तीव्रता ला दी और यातायात के बढ़ते हुए द्रुतगामी साधनों ने प्रगति-पथ को प्रशस्त कर दिया। मोनो और लाइनो टाइपों का प्रयोग बढ़ने लगा और हाथ से चलने वाली मशीनों का स्थान रोटरी जैसे प्रेसों ने ग्रहण कर लिया। आफ्सेट प्रिंटिंग की आकर्षक प्रणाली का भी प्रचलन हो गया। अब रंगीन छपाई में भी विविधता आ गई है और प्रकाशन के स्तर में सुरुचि पूर्ण सौंदर्य एवं सुघरता लाने का यत्न होने लगा है। अलग-अलग तैयारी करके एक काम पूरा करने की जो पुरानी प्रणाली प्रचलित रही है उसे एक साथ ही पूरा करना संभव होता जा रहा है।

आधुनिक युग में विज्ञान नई संभावनाओं को लेकर आया है और मुद्रण-प्रकाशन-कार्य भी इससे अप्रभावित रहने वाला नहीं है।

संख्यावाची शब्द

सुनोति कुमार चाटुर्ज्या के अनुसार विभिन्न भाषाओं के संख्यावाची शब्द संस्कृत भाषा से विकसित न होकर मध्यकालीन किसी परिनिष्ठित भाषा के प्रभाव से सभी आर्यभाषाओं में फैल गए हैं। इसी कारण उनमें स्थानीय प्राकृत शब्दों का अभाव है। फलस्वरूप प्राकृत-काल से ही ये शब्द भिन्न रूपों में पाये जाते हैं। परंतु पालि की संख्याओं को सबका आधार मानना क्लिष्ट कल्पना है। इनकी ध्वन्यात्मक विशेषताओं को भी उक्त आधार पर स्पष्ट करना सब समय संभव नहीं है। संभवतः अन्य शब्दों की तरह संख्याओं में कम विकास या परिवर्तन होने का कारण उनका अंतःक्षेत्रीय व्यापारिक प्रयोग है। तुर्की की कई भाषाओं में भी ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं।

पूर्णवाची शब्द

एक : 'एक्क' रूप की प्रधानता। यह तीनों अपभ्रंशों में पाया जाता है। इसके साथ एक, एकक, एक्क तीनों अपभ्रंशों में पाये जाते हैं। पश्चिमी अपभ्रश में इक्क, इग, इय, यक में एक्कल्ल, प. एकल्ल (आल्ल स्वार्थिक) एक, इग और इय आदि कुछ पुराने रूप भी देखे जाते हैं। पश्चिमी अपभ्रंश, दक्षिणी अपभ्रंश के 'क' अत वाले रूप भी एक्क की ही प्रधानता घोषित करते हैं। पश्चिमी अपभ्रंश के एक्कइ जैसे रूप भी यही बात सूचित करते हैं। नव्य भारतीय आर्यभाषा रूप अप. एक्क रूप से ही विकसित जान पड़ते हैं। एक्क में दो 'क' ध्वनियों का प्रयोग मध्य भारतीय आर्यभाषा-काल की बोलचाल की विशेषता है। यह एकमात्र संख्यावाची शब्द है जिसमें लिंग-भेद देखा जाता है। अकारांत प्रातिपादिकों की तरह सामान्यकारक एक वचन में–क एवं शून्य,–हिं,–हिँ–हि अधिकरण एकवचन में अनिश्चयवाची के रूप में 'एक' का प्रयोग उतना ही प्राचीन है जितना कि अथर्ववेद। अपभ्रंश की यह अपनी विशेषता नहीं है। इस शब्द से मिलता-जुलता शब्द हित्ती और फ़ारसी में उपलब्ध है। संभवतः यह प्राकृत 'एक्क' का परवर्ती तद्भव है।

दो : दक्षिणी अपभ्रंश में बे, वे, दोण्णि, विण्णि, पूर्वी अपभ्रंश में बे, बोण्ण, बिण्ण, पश्चिमी अपभ्रंश में वे, दोण्णि (<प्रा. भा. आ. द्व) दखे जाते ह। पश्चिमी और दक्षिणी अपभ्रंश 'दो' के लिए प्रयुक्त रूपों के प्रसग में थोड़ा अनियमितता इसलिए है कि इन दोनों के बीच इन रूपों का आदान-प्रदान हुआ है। पूर्वी अपभ्रंश में 'ब' वाले रूप हो नियमित रूप से प्रयुक्त हाते रहे। रूप-प्रक्रिया में–ओ–और–उ– तत्वों के आगम के कारण –औ है जसे पश्चिमी-दक्षिणा अपभ्रंश दोण्णि, दुण्णि, दोहिं, दाहिँ, पश्चिमा अपभ्रंश दाहि, दक्षिणी अभ्रंश दुण्ह, दूण (द्विगुण) तुलनीय मराठी दुणें, हिं, दूना, दुहडि (द्विघटि)।

दक्षिणा-पूर्वी अपभ्रंश में जो विण्णि पूर्वी अपभ्रंश में बिण्ण, पश्चिमा-दाक्षणा अपभ्रंश में दोण्ण, दुण्णि रूप पाये जाते हैं वे वस्तुतः प्राचीन भारतीय आयंभाषा तृणि के सादृश्य पर हैं। दक्षिणी अपभ्रंश वे, दक्षिण पूर्वी अपभ्रंश वे <प्रा. भा. आ. द्वे सामान्य कारक में पाये जाते हैं। करण और अधिकरण –हिं, –हिँ, –हि, पश्चिमी-दक्षिणी अपभ्रंश दोहिं, दोहिँ, दाहि, दाक्षणो अपभ्रश बिहिं। सबंध-दक्षिणी अपभ्रंश, दुण्हं, पाश्चमी अपभ्रश, दुण्ह, पश्चिमा अपभ्रंश दोण्ह। प्राचान भारतीय आयंभाषा 'द्व' हा लिखने में अपभ्रंश-काल में 'बा' जैसा हो गया है।

तीन : दक्षिण-पश्चिमी अपभ्रंश तिण्णि, पूर्वी अपभ्रंश तिण्ण, दक्षिणी अपभ्रंश ति प्राचीन भारतीय आयभाषा तृणि के लिए प्रयुक्त हुए हैं। तुलनाय-पाल तोनि, प्राकृत तिण्णि, मराठी, हिंदो तीन, बंगाला, नेपालो तिन, पजाबी तिन्न। अपभ्रंश युग में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा 'तृ', ति-, तइ-, ते हो गया, जैस तिविह (त्रिविध), तिग (तृक्) पूर्वी अपभ्रश तेलोअ, पश्चिमी अपभ्रश तइलोय (त्रैलोक्य) दक्षिणी अपभ्रंश तइय (तृक्)।

पश्चिमी-दक्षिणी अपभ्रंश में सामान्य कारक में तिण्णि, पूर्वी अपभ्रश में तिण्ण, दाक्षणी अपभ्रश में ति बिना लिंग-भेद के दिखाई देता है। करण-अधिकरण में हिं और हि का प्रयोग होता है जैसे दक्षिणी अपभ्रंश तिहिं; पश्चिमी अपभ्रंश तिहि, तिहिणि। सबध वाले रूप-ह वाले होते हैं, जैसे तीह।

चार : पश्चिमी दक्षिणी पूर्वी अपभ्रश में चउ (चतुर), पश्चिमी दक्षिणी अपभ्रश चयारि (* चतारि>चतारि<प्रा. भा. आ. चत्वारि)।

यह मराठी, हिंदी, गुजराती, पंजाबी, नेपाली में चार के रूप में उच्चरित होती है। अपभ्रंश में यह 'चउ' के रूप में दिखायी पड़ता है; जैसे पूर्वी अपभ्रंश चउट्ठअ (चतुष्टय), पश्चिमी अपभ्रंश चउव्विह, दक्षिणी अपभ्रंश चउविह (चतुर्विध), चउरासी (चतुरशीति)। सन. च. में चार्उद्दिसि (चतुर्दिक्षु) पाया जाता है जिसमें 'चाउ' रूप मिलता है।

पांच : पश्चिमी दक्षिणी अपभ्रंश पंच (पंचम्) सहज रूप में विकसित हुआ है तुलनीय-पालि, प्राकृत पंच; महाराष्ट्री, हिंदी, गुजराती, बंगाली, नेपाली पाँच; पंजावी पंज; सिंधी पंजा। सामान्य कारक में कोई अलग से विभक्तिक प्रत्यय नहीं लगता। करण-अधिकरण में-हिँ तथा संप्रदान-संबंध और अपादान में-हँ और ह विभक्ति के चिन्ह दिखायी पड़ते हैं। समासांत पदों में पंच ज्यों-का-त्यों रहता है या फिर पण्ण या पण-के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है। उदाहरण स्वरूप, पश्चिमी अपभ्रंश पंच-गुरु (गुरुन्), दक्षिणी अपभ्रंश पणु-वीसा, पंचुत्तर-वोसा (पंचोत्तर विंशति), पश्चिमी अपभ्रंश पण्णरह (पंच-दश) तुलनीय-हिंदी पंद्रह, मराठी पंध्रा, सिंधी पंद्रहँ आदि।

छह : पश्चिमी दक्षिणी अपभ्रंश छ, छह (*षष) इन्हीं से विकसित रूप सभी नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में देखे जाते हैं। गुजराती, हिंदी-छ, छह, सिंधी छ, छह, मराठी सहा, सिंहली-स, सय, बंगाली छय। अपभ्रंश के छ युक्त समस्त पद प्राचीन भारतीय आर्यभाषा या प्राकृतों से गृहीत हैं; जैसे, प. द. अपभ्रंश छंद्दसण, छद्दरिसण (षड्-दर्शन), छण्ण (-स-) छवइ (षण्णवति), दक्षिणी अपभ्रंश छण्णउदिमा (षण्णवतितमा), छप्पय (षट्पद)। सोल् (-ल-) अस (-ह)< षोडष अन्य प्राकृत बोलियों में प्रचलित हैं।

सात, आठ, नौ : सत्त (सप्तम्) अट्ठ (अष्टम्) णव (नवम्) आदि के प्रयोग में काफी नियमितता का दर्शन होता है। नव्य भारतीय आर्य-भाषा में भी इनसे विकसित रूप बिलकुल सहज है। अपभ्रंश सत्त> मराठी गुजराती हिंदी-बंगाली 'सात्'; उड़िया सात; पंजाबी सत्त; अपभ्रंश आट्ठ; मराठी, गुजराती, हिंदी, उड़िया आठ् (अ), बंगाली आट, पंजाबी अट्ठ (अ) और अपभ्रंश णव>मराठी, गुजराती, हिंदी, नेपाली नउ, पंजाबी नऊं।

सामान्य कारक के प्रसंग में इनमें विभक्तिक चिह्न नहीं लगते।

करण और अधिकरण में-एहिं, -इहिं या-अहिँ, -इहिँ दिखलायी पड़ते हैं। संबंधकारक में हँ, ह विभक्तिक चिह्न लगते हैं। अट्ठ, (कभी-कभी अट्ठइं), अट्ठहिं, सत्तहिँ आदि कुछ रूप मिलते हैं। अपभ्रंश में लिंग-विधान शिथिल पड़ गया था। 'अट्ठइ मूलगुणा' में पुल्लिग के लिए नपुंसक लिंग संख्यावाचक विशेषण 'अ' प्रयोग हुआ है।

दस : साहित्यिक अपभ्रंश में दस और दह दो रूप पाये जाते हैं (प्रा. भा. आ. दशन्, तुलनीय-पालि दस)। पूर्वी अपभ्रंश में दह भी देखा जाता है। (दो को. सरह ४५) दो. को. की तिब्बती प्रति में यह केवल एक स्थान पर मालूम पड़ता है और उस क्षेत्र में भी यह एकमात्र प्रयोग है। (पूर्वी अपभ्रंश-क्षेत्र)। इन दोनों से विकसित होने वाले न. भा. आ. वाले रूपों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखायी पड़ता (गुजराती, हिंदी-दस्, मराठी पंजाबी-दहा, सिंधी-डह)।

दस की सहायता से बनने वाले और समस्त पद के रूप में दिखलायी पड़ने वाले सख्यावाची शब्दों में दस के रूप में दिखलायी पड़ता है।

ग्यारह : एयारह (एकादश) तुलनाय-प्राकृत एक्कारस, एग्गारह, एआरह। नव्य भारतीय आर्यभाषा-मराठी अक्रा, गुजरातो अग्यार, हिंदो एगारह, नेपाली एआर।

बारह : बारह, बारस (द्वादश) तुलनीय-अशोक स्तंभ लेख दुवाद (-उ) -स, प्राकृत दुवालस, बारस, नव्य भारतोय आर्यभाषा मराठो बारा, नेपाली, गुजराती बार, हिंदी बारह।

तेरह : पश्चिमी दक्षिणी अपभ्रंश तेरह (त्रयोदश) तुलनीय-पालि तेलस, प्राकृत तेरस, तेरह, नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी तेरा, हिंदी तेरह, नेपाली तेर, गुजराती तेर्।

चौदह : चोद्दह, चउद्दह, और चाउद्दह (प्राकृत पैंगल) < चतुर्दश, तुलनीय-पालि चतुद्दस, चुद्दस; प्राकृत चउद्दस, चौंदस, चोद्द। नव्य भार, तीय आर्यभाषा मराठी चौदा या चंदा, हिंदी चउदह्, गुजराती चोद्, नेपाली चौद।

पंद्रह : पश्चिमी-दक्षिणी अपभ्रंश पण्णरह, दक्षिणी अपभ्रंश पण्णारह (हरि. पु) < पंचदश, तुलनीय-पालि पंचदस, पन्नरस, पण्णरस, प्राकृत पण्णरस, नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी पध्रा, गुजराती पंदर, उड़िया

पंदर, पंजाबी पंद्राँ, सिंधी पंद्राहा, नेपाली पंद्र। 'दह पंच' प्राकृत पिंगल में काव्यात्मक अभिव्यक्ति के कारण दिखलायी पड़ता है।

सोलह : सोल् (ल्) अस सोल् (-ल्) अह (षोडष), तुलनीय-पालि सोलस, प्राकृत सोलस, सोलह्, सोल। नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी सोला, गुजराती सोल्, उड़िया–सोल, सिंहली सोलस, हिंदी सोलह्, नेपाली सौर।

इन दोनों रूपों को प्राचीन भारतीय आर्यभाषा से नियमित रूप से विकसित माना जा सकता है।

निम्नलिखित संख्यावाचक शब्दों का विकास-क्रम सरलता से समझा जा सकता है।

अठारह : पश्चिमी अपभ्रंश अट्ठारस, दक्षिणी अपभ्रंश अट्ठारह (अष्टादश) तुलनीय-पालि, प्राकृत अट्ठारस। नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी अध्रा, गुज० अराउ (ह), अढार, हिंदी अट्ठारह, नेपाली अठारह।

बीस : पश्चिमी दक्षिणी अपभ्रंश <* विंशत् = विंशति (यह विंशत् के वजन पर बदल दिया गया है।) तुलनीय-पालि वीस (ति) प्राकृत वीसइ, नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी वीस्, गुजराती वीश्, सिंधी वीह, पजाबी वीह-हिंदी बीस, नेपाली, बंगाली बिस्।

इक्कीस : दक्षिणी अपभ्रंश एक्क-वीस (एक-विंशत्), तुलनीय-मराठी, गुजराती एक्वीस, हिंदी एकइस, नेपाली एक्काइस्।

बाइस : पश्चिमी दक्षिणी अपभ्रंश बावीस (द्वा-विंशत्) तुलनीय-पालि द्वावीसति।

पचीस : पंचुतर वीस (पंचोत्तर-विंशत्), पणुवीसं, दक्षिणी अपभ्रंश पंचवीस (पंच-विंशत्), तुलनीय-पालि पंचवीस, पण्णवीसति, पण्णुवीस, प्राकृत पणुवीस, नव्य भारतीय आर्यभाषा, मराठी पंच्वीस् हिंदी, गुजराती पचीस्, नेपाली पचिस्।

अठाइस : दक्षिणी अपभ्रंश अट्ठावीस (अष्टोविंशत्) तुलनीय-पालि अट्ठवीसति, प्राकृत अट्ठावीसं। नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी अट्ठावीस्, गुजराती अठावीस्, हिंदी अठाईस्, नेपाली अठाइस्।

तीस : पश्चिमी दक्षिणी अपभ्रंश तीस < त्रिंशत् तुलनीय-पालि तिंस (स्त्रीलिंग), प्राकृत तीस, तीसइ, नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी हिंदी तीस्, सिंहली तिस, तिह, पंजाबी तीह्।

उपर्युक्त दोनों संख्यावाची शब्दों में ध्वन्यात्मक परिवर्तन अत्यंत स्वाभाविक रूप में हुआ है।

तैंतीस : तेत्तिय, तीयतिस (प. अप.) त्रायत्रिंशत्, दक्षिणी अपभ्रंश तेत्तीस (त्रयत्रिंशत्), तुलनीय-पालि तेत्तिस, प्राकृत तेत्तिस, नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी तेत्तीस् (तेहत्तीस्), गुजराती तेत्रिस्, हिंदी तैंतीस्, नेपाली तेत्तिस्।

चौंतीस : चौंतीस (चतुत्रिंशत्) तुलनीय-प्राकृत चौत्तीस।

अड़तीस : अट्ठतीस (अष्टत्रिंशत्)।

चालीस : दक्षिणी अपभ्रंश चालिस, प. अप. चालिस, तालिस, समस्तपदीय संख्यावाचकों के दूसरे अंश के रूप में यह– आलिस, –याल< प्राचीन भारतीय आर्यभाषा चत्वारिंशत्, तुलनीय-पालि चत्तालिस, चत्तारीस, प्राकृत चत्तालीस, चायालीस (< * चातालीस< चत्तालीस)।

नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी, गुजराती चालीस, सिंधी चालीह्, पंजाबी चाली, हिंदी चालीस, बंगाली चल्लीस, सिंहली सतालिह (ल), सालिस्। दक्षिणी अपभ्रंश में चालीस वाले रूप ही हैं—तालिस वाले नहीं, यथा छायालीस (४६)

छियालीस : दक्षिणी अपभ्रंश छायालीस < प्राकृत छ (ह)–चालीस < षट्चत्वारिंशत तुलनीय-प्राकृत छायालीस। नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी सेचालीस्, गुजराती छेतालीस्, हिंदी छियालीस्, नेपाली छायालीस्।

अड़तालीस : पश्चिमी अपभ्रंश अट्ठयाल (अष्ट-चत्वारिंशत्) तुलनीय-पालि अट्ठचत्तारीस, प्राकृत अट्ठचत्तालीस, –चत्ताल। मराठी अत्थेचाल (अट्ठेताल नहीं जैसा कि टर्नर ने नेपाली डिक्शनरी में दिया है) गुजराती अड़तालीस्।

उंचास : दक्षिणी अपभ्रंश एक्कूणइं पण्णास < एकोनपंचाशत्। तुलनीय-मराठी एक्कुणपन्नास, गुजराती ओगण्पचास।

पचास : पश्चिमी दक्षिणी अपभ्रंश पण्णास < पंचाशत्, तुलनीय-पालि पञ्चास, पण्णास, प्राकृत पण्णास, नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी पन्नास्, गुजराती, हिंदी, नेपाली पचास्।

पचपन् : दक्षिणी अपभ्रंश पण-पण्णास (पंच-पंचाशत्)। तुलनीय-पालि पंचपञ्चास, पाकृत पणवण्ण, देशी पंचावण्णा। नव्य भारतीय

आर्यभाषा, मराठी पंचावन्, गुजराती पँचावन्, उड़िया पचावन, हिंदी पच्पन्, नेपाली पच्पन्, पचपन्न्।

छप्पन : दक्षिणी अपभ्रंश छप्पण्ण (षट्पंचाशत्), तुलनीय-प्राकृत, छप्पण्ण छवण्ण नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी छप्पन् (न्), गुजराती, हिंदी, नेपाली छप्पन्।

साठ : पश्चिमी दक्षिणी अपभ्रंश सट्ठि < षष्टि तुलनीय-पालि, प्राकृत सट्ठि (स्त्री.)। नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी, गुजराती, हिंदी साठ, सिंधी साठ्, साठि, पंजाबी सट्ठ, नेपाली साठि (इन सब रूपों में भी मध्य भारतीय आर्यभाषा-काल में ध्वन्यात्मक परिवर्तन स्वाभाविक रूप में हुआ है।)

छाछठ : पश्चिमी अपभ्रंश छावट्ठि (षट्षष्टि), तुलनीय-प्राकृत छाचट्ठि। नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी सासट्, सासष्ट्, गुज. छासठ्, हिंदी छियासठ्, सिंधी छासठि, बंगाली छेसट्टि, नेपाली छेयसट्ठि।

सत्तर : पश्चिमी अपभ्रंश सत्तरि, सत्तर<प्राचीन भारतीय आर्यभाषा सप्तति, तुलनीय-पालि सत्तति प्राकृत सत्तरि। नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी, हिंदी, पंजाबी, बंगाली सत्तरि, सिंधी सतर्, उड़िया सतोरि, नेपाली सत्तरि (इसमें र प्राकृत कालीन है)।

पचहत्तर : पंच-सत्तर, सत्तरि (पंच-सप्तति) तुलनीय-प्राकृत पंचहत्तरि, पण्णत्तरि। नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी पाच्याहत्तर, पच्यात्तर, गुज० पँचोतर्, उड़िया पंचत्तरि नेपाली पचहत्तर।

अस्सी : असीति, असिइ, असी (प्रा. भा. आ. अशीति तुलनीय-प्राकृत अहिइ। नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी, असिइ, गुजराती एंशि, नेपाली आसि, असि, अप. असी<प्राकृत-असिइ सं. अशीति बिलकुल स्पष्ट है।

चौरासी : पश्चिमी दक्षिणी अपभ्रंश चौरासी (चतुरशीति) तुलनीय-पालि चुल्लासीति, प्राकृत चौरासीह, नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी चौर्यासी, गुजराती चौरासी, हिंदी चौरासी, नेपाली चौरासि।

नब्बे : णवदि, णवइ, णोदि और दक्षिणी अपभ्रंश-नउय<प्राचीन भारतीय आर्यभाषा नवति, तुलनीय-पालि नवति, प्राकृत नउइ, नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी नव्वद, गुज० नेवू, सिंधी नवे, हिंदी-पंजाबी -नव्वे, नेपाली नब्बे।

एक से लेकर आठ तक के अंकों को दस के साथ मिला कर बनायी

जाने वाली विभिन्न समस्तपदीय संख्याओं में बहुत-सी प्राकृत और अपभ्रंश में समान रूप में दिखलायी पड़ती है। थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ ये संख्याएं नव्य भारतीय आर्यभाषा में भी दिखलायी पड़ती हैं।

छानबे : पश्चिमी अपभ्रंश छण्णवइ, छण्णौदि (षण्णवति), तुलनीय-प्राकृत छणउइ, नव्य भारतीय आर्यभाषा माराठी शाण्णव्, गुज० छण्णुं, नेपाली छयानव्वे।

निन्यानबे : दक्षिणी अपभ्रंश णवणोयइँ (वरिसइँ) <नव-नवति-, तुलनीय-प्राकृत णवणउइ (स्त्री.) नव्य भारतीय आर्यभाषा मराठी नव्या (-व्या-) ण्णव, हिंदी निन्यानबे।

वास्तव में अपभ्रंश-काल में उपर्युक्त संख्यावाचकों में थोड़ा-बहुत ध्वन्यात्मक परिवर्तन मात्र ही दिखलायी पड़ता है।

अंशवाची शब्द

अंशवाची शब्दों के प्रसंग में अपभ्रंश प्राकृत का ही अनुसरण करती है। कुछ अंशवाची शब्द नीचे दिये जाते हैं।

अद्ध, अड्ढ<अर्ध

सद्ध<सार्ध।

अन्य अंशवाची शब्द का निर्माण विविध संख्याओं में 'अर्ध' शब्द जोड़ कर किया जाता है।

दियड्ढ (द्व्यर्ध) तुलनीय-मराठी दीड, गुजराती दोढ, हिंदी-पंजाबी देढ, बंगाली देड्।

३½ के लिये आउट्ठ<मध्य भारतीय आर्यभाषा अद्ध-उट्ठ प्राचीन आर्यभाषा अर्ध-तुलनीय-मराठी आट्, गुजराती ऊठु, ऊठ्।

क्रमवाची शब्द

अपभ्रंश में निम्नलिखित क्रमवाची शब्द हैं :

प्रथम : पढम (प्रथम), पश्चिमी दक्षिणी अपभ्रंश पहिल, पहिलअ, पहिल्ल, पहिल्लिय (*प्रथ-इल, -इलक, -इल्ल, -इल्लिक) पहिलारअ, स्त्री० पहिलरि (*प्रथिलत्त-क)।

द्वितीय : दक्षिणी अपभ्रंश एवं पश्चिमी अपभ्रंश बीअ, बीय, बीय (वीय आल्सडोर्फ के अनुसार) बीयंअ, पश्चिमी अपभ्रंश दुय, दुइज्ज

(द्वितीय)। अपभ्रंश में-सर जैसा कोई प्रत्यय नहीं था, लेकिन नव्य भारतीय आर्यभाषा-याल में संपूर्ण भारत में इसका प्रचार हो गया। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि यह बारहवीं शताब्दी की बोल-चाल की अपभ्रंश में प्रचलित हो गया हो।

तृतीय : द. अपभ्रंश तइय, तइयअ, पश्चिमी अपभ्रंश तिज्जो (तृतीय), –इज्ज पश्चिमी अपभ्रंश में द्वितीय औ तृतीय के लिए प्रयुक्त होने वाला प्रत्यय है।

चतुर्थ : पश्चिमी दक्षिणी अपभ्रंश चउठ्ठ, दक्षिणी अपभ्रंश चउट्ठ, चोत्थअ (चतुर्थ), तुलनीय-मराठी चौथा, गुजराती चौथ, हिंदी, पंजाबी नेपाली चौथा।

पांच तथा उससे ऊपर की संख्याओं में – म प्रत्यय लगा कर क्रम-वाची शब्द बनाये जाते हैं (छह को छोड़ कर) यह – म कभी-कभी –व के रूप में दिखलायी पड़ता है। पश्चिमी दक्षिणी अपभ्रंश पंचम (–व), सत्तम (–व) अट्ठम, णवम आदि (सभी पश्चिमी दक्षिणी अपभ्रंश) लेकिन ये सभी प्राकृत रूप हैं।

षष्ठ : पश्चिमी दक्षिणी अपभ्रंश छट्ठय, दक्षिणी अपभ्रंश छट्ठ (षष्ठ), स्त्रीलिंग छट्ठी (षष्ठी) अपभ्रंश से पहले का है। ये सभी विशेषण होते हैं और इनमें लिंग-भेद देखा जाता है। स्त्रीलिंग के प्रसंग में –ई (या –मी) प्रत्यय का प्रयोग देखा जाता है।

हिंदी व्याकरण के प्रेरणा-स्रोत

भाषा गतिशील है और व्याकरण स्थितिशील। भाषा द्वारा व्याकरणिक लक्ष्मण-रेखा के उल्लंघन किये जाने पर भी वह पराया नहीं बन जाती। व्याकरण बार-बार उसे सीमा-अंकुश द्वारा घेर कर नियंत्रण में लाने का प्रयास करता रहता है, किंतु यह उसे व्यवहार में अस्वीकार कर यदा-कदा स्वच्छंद बन जाती है। इसकी यह प्रक्रिया लोक-सपर्क में आकार शाश्वत-प्राय बन जाती है और व्याकरण है कि कभी हिम्मत नहीं हारता। उसे नियंत्रण में लाने के लिए नित्य नए-नए नियमों के निर्धारण में सतर्क युक्तियों का प्रयोग किया करता है। हिंदी का व्याकरण भी सका अपवाद नहीं है। यहां भी भाषा के विकास-क्रम के साथ-साथ व्याकरणिक नियमादि में यत्किंचित हेरफेर होते ही रहते हैं। व्याकरण उससे सामंजस्य बैठाने के लिए आवश्यकतानुसार भाषा की छूट स्वीकार कर लिया करता है। इस प्रकार सप्राण भाषा ही नहीं, जीवंत व्याकरण भी विकसनशील बन जाता है। व्याकरण भाषा का अनुगमन करता है, भाषा व्याकरण का अनुसरण नहीं करती।

हिंदी व्याकरण का सूत्रपात अन्य अनेक विषयों की भांति विदेशी विद्वानों द्वारा संपन्न हुआ। इस संदर्भ में गिलक्राइस्ट, रोएब्रक, येट्स, फोरवस, प्लाट्स, केलाग आदि के नाम लिए जाते हैं। इन्हीं के द्वारा लिखित व्याकरणों से प्रेरणा ग्रहण कर भारतीय विद्वानों ने भी व्याकरण लिखना आरंभ किया। ऐसे लेखकों में श्रीलाल, रामजसन, नवीनचंद्र राय, सितारे हिंद, अयोध्याप्रसाद खत्री और रामचरण सिंह आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परवर्ती व्याकरण-लेखकों में सुधाकर द्विवेदी, शीतला प्रसाद त्रिपाठी, केशव राम भट्ट, श्यामसुंदर दास आदि के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। इन सबसे भिन्न कामता प्रसाद गुरु का व्याकरण सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ।

इसी प्रकार भारतीय वैयाकरणों के हिंदी व्याकरणों में 'भाषा चंद्रोदय', 'भाषा तत्वबोधिनी', 'नवीन चंद्रोदय, 'हिंदी व्याकरण', और 'भाषा-प्रभाकर' की गणना मुख्य रूप से की जाती है। परवर्ती हिंदी व्याकरणों में गुरु के 'हिंदी व्याकरण' तथा किशोरीदास वाजपेयी के

'हिंदी शब्दानुशासन' और 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' का विशेष महत्व है। रामचंद्र वर्मा ने भी शब्दों के प्रयोग तथा वाक्य-रचना-शैली पर अच्छा काम किया है। इधर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी का ऐतिहासिक व्याकरण' तैयार किया है जिसका हिंदी व्याकरण-परंपरा में अद्वितीय स्थान है।

हिंदी व्याकरणों के प्रेरणा-स्रोत भारतीय तथा युरोपीय व्याकरण-परंपराएं हैं। भारतीय परपराओं में संस्कृत तथा मराठी का मुख्य स्थान है। संस्कृत व्याकरण की बड़ी समृद्ध परंपरा रही है और मराठी व्याकरण आधुनिक होने के कारण कहीं-न-कहीं से प्रभावित है। इसी प्रकार अंग्रेजी के माध्यम से उपलब्ध युरोपीय परंपरा भी ग्रीक-लैटिन परंपरा का ऋणी है। ग्रीक व्याकरण-परपरा का आरभ ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से ही हो गया था। इस परंपरा के प्रामाणिक वैयाकरणों में दायनिसियस का प्रथम स्थान है। परवर्ती काल में लैटिन व्याकरणों की परंपरा चल पड़ी जिसके वैयाकरणों में चतुर्थ शताब्दी के दोनेतस और छठी शताब्दी के प्रिसियन के नाम आदर पूर्वक लिये जाते हैं। अंग्रेजी-व्याकरणों की रचना अठारहवीं शताब्दी से विधिवत आरंभ हुई। इस काल के अंग्रेजी-वैयाकरणों में प्रीस्टली, लोथ, कैंपवेल तथा मरे जैसे वैयाकरण अधिक विख्यात हैं। अंग्रेजी-व्याकरण की परंपरा मूलतः ग्रीक-लैटिन परंपरा से अभिभूत है।

इसी प्रकार संस्कृत में व्याकरणिक दृष्टि का उदय होने का संकेत हमें ब्राह्मण-काल से ही मिलता है जो ईसा-काल से बहुत पहले का ठहरता है। इसका एक उदाहरण गोपथ ब्राह्मण, प्रथम प्रपाठक (१।२४) में उवलब्ध है। इससे पता चलता है कि तत्कालीन ऋषि व्याकरणिक शब्दावली से परिचित रहे हैं। वहां पर धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात, लिंग, वचन और विभक्ति जैसे पारिभाषिक शब्दावलियों के प्रयोग मिलते हैं। इसमें अन्यत्र (१।२७) में 'संस्थानाध्यायिन' आचार्यों के विख्यात होने का भी उल्लेख है। पाणिनि पूर्व व्याकरणिक सामग्री यद्यपि आज पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है तथापि यास्क ने नामादि के संदर्भ में आपिशलादि कई पूर्वाचार्यों का नाम लिया है।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी की पाणिनि रचित 'अष्टाध्यायी' शब्दानुशासन के लिए संस्कृत का सर्वप्रथम व्याकरण है। पारिभाषिक शब्दावली की दृष्टि से भी इसकी रचना अत्यंत महत्वपूर्ण है। परवर्ती

वैयाकरणों के लिए पाणिनीय सूत्र पथ-प्रदर्शक बन गए और उनका किसी-न-किसी रूप में सहारा लेना अनिवार्य हो गया। ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वैयाकरण व्याडि पाणिनीय परंपरा में ही आते हैं। भर्तृहरि के 'महाभाष्य दीपिका' (पृ. २१) अनुसार चौदह हजार 'वस्तुओं' पर विचार इनके संग्रह ग्रंथ में पाया जाता है। परंतु उस समय से ही इसका पता नहीं चलता है। इनके द्वारा 'अपभ्रंश' शब्द का कदाचित सर्वप्रथम प्रयोग किया गया है (वाक्यपदीय १।१४८ हरिवृत्ति)। ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी के प्रसिद्ध वैयाकरण कात्यायन हैं। इन्होंने व्याकरण दर्शन को लोक-विज्ञान सम्मत बना कर नया निर्देश दिया। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के महाभाष्यकार पतंजलि को भर्तृहरि ने 'तीर्थदर्शी' बतलाया है। 'महाभाष्य' में बहुविध विद्यावाद का समावेश है। ये सूत्रों तथा वार्तिकों के भाष्यकार हैं। वसुरात का समय ईसा की चतुर्थ शताब्दी के आसपास का है। इन्हें भर्तृहरि का गुरु ठहराया गया है। इन्होंने दार्शनिक आधार पर व्याकरण की व्याख्या प्रस्तुत की है। ये व्याडि के 'संग्रह' से प्रभावित जान पड़ते हैं। इनसे प्रेरणा ग्रहण कर भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' की रचना की है और उसकी स्थापनाओं को उन्होंने गुरु की देन स्वीकार किया है। भर्तृहरि का मृत्यु-समय, यद्यपि इत्सिंग के अनुमार सन् ६५० ईसवी के लगभग का तथापि यह कई कारणों से विश्वसनीय नहीं है। जो हो, ये कदाचित छठी शताब्दी के बाद के नहीं हैं। इनका 'वाक्यपदीय' व्याकरण शास्त्र को बहुत बड़ी देन है। 'वाक्यपदीय' के अतिरिक्त इन्होंने उसके प्रथम तथा द्वितीय कांड की 'स्वोपज्ञ वृत्ति' लिखी है। इनका महाभाष्य त्रिपदी (महाभाष्य दीपिका) भी प्रसिद्ध है। इनमें इन्होंने महाभाष्य के तीन पादों की व्याख्या दी है जिस कारण इसे 'त्रिपदी' कहा गया है। कहीं-कहीं इनके 'शब्द धातु समीक्षा' का भी उल्लेख मिलता है। वाक्यपदीय के टीकाकारों में वृषभदेव, (सन् ५५० ईसवी), धर्मपाल (मृत्यु-काल सन् ५७० ईसवी) पुण्यराज (लगभग सन् ९०० ईसवी), हेलाराज (लगभग सन् ९७५ ईसवी) के नाम मुख्यतः लिये जाते हैं। 'वाक्यपदीय' का प्रभाव भारतीय चिंतन पर पड़ा है। छठी से ग्यारहवीं शताब्दी तक की चिंताधारा इससे अनुप्राणित है। इसी से आसपास का समय लोकभाषाओं का उदय-काल है। हिंदी का आदि-स्रोत यहीं है।

फलस्वरूप अंग्रेजी-व्याकरण से प्रभावित हिंदी व्याकरण भी भारतीय परंपरा से विछिन्न हो गए हैं। वास्तव में न तो वे भारतीय परंपरा के रह पाये हैं, न हिंदी की किसी स्वतंत्र व्याकरण-परंपरा का निर्माण कर सके हैं। संस्कृत परंपरा से प्रभावित हिंदी-व्याकरणों की स्थिति भी कुछ अधिक भिन्न नहीं है। वहां भी हिंदी-व्याकरण की किसी स्वतंत्र परंपरा का विकास नहीं हो पाया है जब कि हिंदी भाषा का अपना स्वतंत्र अस्तित्व तथा स्थान बन चुका है। गुरु का 'हिंदी व्याकरण' भी दामले कृत मराठी व्याकरण तथा अंग्रेजी की परंपरा द्वारा उपकृत है। वाजपेयी ही ऐसा वैयाकरण है जिनका न्यूनाधिक ध्यान हिंदी की ओर भी गया है। फिर भी उसमें वह पूर्णत: रमा नहीं है। उनके संस्कृत जन्य संस्कार का आग्रह अपने स्थान पर अडिग लगता है।

प्रस्तुत संदर्भ में ध्यातव्य है कि हिंदी भाषा की स्वतत्र प्रकृति एवं संरचना-प्रक्रिया निश्चित रूप से अन्य किसी एक भाषा से भिन्न है। फिर यह अन्य भाषाओं की भांति मात्र एक भाषा नहीं अपितु सामासिक 'भाषा-परंपरा' है जिसके प्रवाह में अपभ्रंशादि विभिन्न स्रोतों से विविध तत्व आ गए हैं। अंग्रेजी तथा संस्कृत भी किसी एक भाषा के अपवाद नहीं है। अतएव हिंदी भाषा के वैयाकरण से तदनुरूप व्याकरण की अपेक्षा है।

राष्ट्रभाषा-भाषियों की जन-संख्या

असमो	६८,०००००
उड़िया	१,५७,०००००
उर्दू	२,३३,०००००
कन्नड़	१,७४,०००००
कश्मीरी	१९,०००००
गुजराती	२,०३,०००००
तमिल	३,०५,०००००
तेलुगु	३,७६,०००००
पंजाबी	१,०९,०००००
बंगला	३,३८,०००००
मराठी	३,३२,०००००
मलयालम	१,७०,०००००
संस्कृत	२५००
सिंधी	१३,०००००
हिंदी	१७,००,०००००

इधर कुछ अन्य भाषाएं भी राष्ट्रभाषाओं को सूची में सम्मिलित कर ली गई हैं।

संदर्भ

भाषा और बोली

भाषा संप्रेषण का एक सांकेतिक तथा यादृच्छिक माध्यम है। वह एक ऐसी प्रतीकात्मक पद्धति है जिसका अभिप्राय उसकी प्रकृति के अनुसार कई रूपों में प्रकट होता है। उसका निर्माण सार्थक ध्वनियों द्वारा संपन्न होता है। ध्वनियां यद्यपि पशु-पक्षियों की भी होती है तथापि उनकी कोई पद्धति न होने के कारण उनका विश्लेषण करना संभव नहीं है। उनके ध्वनि-संकेतों के आधार वाक्य-रचना करना असंभव है। भाषा के लिए पद्धति-बद्ध होना उसका अनिवार्य लक्षण है और वह पद्धति उसकी अपनी होतो है। इसलिए उसकी उत्पत्ति मनुष्य की यादृच्छिक प्रवृत्ति के अनुरूप होती है। वह भावाभिव्यक्ति की सहज सामाजिक प्रक्रिया है। इसलिए वह किसी को अनुकृति नहीं है। भाषा मनुष्य को सामाजिक बनाने में सहायक है।

कुछ भाषाओं का प्रचलन इतने विशाल क्षेत्रों में होता है कि उनका व्यापक प्रयोग होने लगता है। प्राचीन काल में संस्कृत ऐसी ही भाषा थी जिसका व्यवहार बृहत्तर भारत तक में पाया जाता है। मध्य-कालीन प्राकृत-अपभ्रंश और आधुनिक हिंदी की भी यही स्थिति है। प्राकृत के लेख खोतन आदि तक में मिले हैं। वे वहां अधिक शुद्ध रूप में सुरक्षित हैं। आधुनिक हिंदी का भी देश-विदेश में अंतरराष्ट्रीय प्रचार-प्रसार है।

ध्वनि-समूह होने पर शैली तथा संघटना आदि के आधार पर भाषा के कई रूप होते हैं। उनका बोध हम विशेषण युक्त प्रयोग द्वारा कराते हैं। भौगोलिक स्थितियां और ऐतिहासिक परिस्थितियां बहुधा इन भेदों को उत्पन्न करती हैं। रुचि और संस्कार भी इनमें सहायक होते हैं।

परंतु भाषा-विज्ञान के अनुसार भाषा लिखित साहित्य की होती है। अलिखित भाषा को बानी अथवा बोली कहा जाता है। भाषा जहां लिखित साहित्य का माध्यम है, वहां बोली सामाजिक व्यवहार का एक मौखिक साधन। इसलिए भाषा के प्रयोग की एक पद्धति होती है जिसका व्यवस्थित अनुसरण के लिए शिक्षा, संयम तथा अभ्यास

की आवश्यकता होती है जबकि बोली के लिए किसी ऐसे अनुशासन की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि बोली का क्षेत्र जहां सीमित अथवा आंचलिक होता है, वहां भाषा का अपेक्षाकृत व्यापक। इसी प्रकार भाषा के लिए लिपि का होना अनिवार्य है जबकि बोली के लिए यह आवश्यक नहीं।

भाषा में भी देश-काल की भांति परिवर्तन होता रहता है। वह कभी स्थिर नहीं रहती। उसमें भी विकास-विस्तार होता रहता है। इसी प्रकार बोलियों का भी विकास होता है और यह प्रक्रिया सार्वदेशिक है। जो लोग उन्हें परिनिष्ठित भाषाओं का अतिक्रमण समझते हैं वे भारी भ्रम पाल रहे हैं। जहां पर व्याकरणिक नियमों का उल्लंघन कर किसी भाषा का मनमाना प्रयोग किया जाता है अथवा किसी प्रचलित पद्धति की उपेक्षा कर भिन्न पद्धति का अनुसरण किया जाता है, वहां वह भाषा व्याकरण-प्रेमी लोगों द्वारा अपभ्रंश (अपभ्रष्ट) घोषित कर दी जाती है। यह कथन इस बात से और भी स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान बोलियां आज की हिंदी का अतिक्रमण नहीं करती अपितु उनका स्वतंत्र अस्तित्व है।

इस प्रकार बोलचाल की वह भाषा जिसकी कोई लिखित परंपरा नहीं है और जो किसी व्याकरणिक पद्धति द्वारा अनुशासित न हो कर अटपटी तथा अनगढ़ है, वह बोली है। इसके लिए न तो किसी शिक्षण की आवश्यकता है, न प्रशिक्षण की। इसे अभ्यास तथा साहचर्य द्वारा सहज हो सुलभ किया जा सकता है। इस बोलने-समझने वाला अधिकतर जन-सामान्य होता है। बोलियों की एकता भाषा की भांति संयत ध्वनियों के उत्पादन पर नहीं, उनकी बोधगम्यता पर अवलंबित है। बोलियों की उप-बोलियां भी होती हैं। स्तुत्रवां के अनुसार, "एक क्षणिक उच्चार पूरे समुदाय की बोलियों से भिन्न होता है। यह असंभव नहीं कि उसमें कुछ ऐसे तत्व हों जो सामान्यतः कई बोलियों में मिले-जुले रहते हैं, किंतु उनमें ऐसे भी तत्व निहित होते हैं जिनके कारण किसी बोली में विशिष्टता आ जाती है।" इसी प्रकार सेपीर के कथनानुसार, "बोली शब्द का प्रयोग वाग्ध्वनियों के उस रूप के लिए किया जाता है जिसे बोली के परवर्ती रूप परिनिष्ठित भाषा के प्रयोग करने वाले समझ नहीं पाते हैं।"

राजनीतिक दृष्टि से वाग्ध्वनियों के उस रूप को भाष कहना

चाहिए जिसे 'राष्ट्रभाषा' की मान्यता प्राप्त है, किंतु बोली इस स्वीकृति से वंचित रह जाती है। परंतु वही जब प्रशासकीय स्वीकृति पाकर राजकाज में व्यवहृत होने लगती है तब उसे 'राजाभाषा' की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसी प्रकार साहित्यिक कसौटी पर भाषा बानी का वह रूप है जो साहित्य के विकास में सहायक होता है, किंतु बोली में वह क्षमता नहीं होती है। भाषा की एक अन्य विशेषता भी है कि उसे न्यूनाधिक मात्रा में सभी समझते हैं, किंतु बोली को अधिकतर स्थानीय लोग ही समझ पाते हैं। फिर भी उनकी शब्द-संपदा के संबंध में हम ठीक यही बात नहीं दुहरा सकते जिसके अनेक उदाहरण भक्ति-काव्य में बिखरे पड़े हैं। इनकी लोकप्रियता में इनका भी हाथ है।

बोलियों का प्रचलन अधिकतर ग्रामीण क्षेत्रों में ही सीमित रहता है, किंतु भाषा का व्यवहार प्रायः शिष्ट एवं शिक्षित समाज में पाया जाता है। राबिंस के अनुसार "बोलियों के अपने प्रत्येक स्तर पर प्रवृत्तिगत रचना के परिवर्तन के कारण देखे जा सकते हैं।" भाषा और बोली दोनों की निजी विशेषताएं हैं और अपनी-अपनी पद्धति है। कभी-कभी प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त भाषा-ज्ञान की अपेक्षा विभाषाओं के नियम और अधिक जटिल होते हैं। इसलिए भाषा-विज्ञानविद् भाषा की तुलना में बोलियों का मूल्य और महत्व कम नहीं आंकते हैं। उनकी दृष्टि में ठेठ भाषा का निदर्शन बोली में ही पाया जाता है। निश्चय ही आंचलिक जीवन का सटीक चित्रण करने में स्थानीय बोलियों से बड़ी सहायता मिलती है।

जनपदीय बोलियां

हिंदी में अंग्रेजी शब्द 'डायलेक्ट' के लिए 'ग्रामीण बोली' का प्रयोग किया जाता है। बोलियों का व्यवहार, यद्यपि ग्रामीण और नगरीय दोनों ही क्षेत्रों में होता है तथापि उन्हें 'ग्रामीण' अथवा 'गंवारू' विशेषण से युक्त कर उनकी हीनता का बोध कराया जाता है। बहुधा यह भुला दिया जाता है कि चीनी के अस्तित्व का आधार गुड़ ही है। दोनों में कोई तात्विक भेद नहीं है। इसी प्रकार भाषा-विज्ञान की कसौटी पर 'भाषा' तथा 'बोली' में भी कोई मौलिक अंतर नहीं है। उनका परस्पर पृथकत्व वस्तुतः व्यावहारिक है। जो हो, यहां बोली के साथ हीनता द्योतक 'ग्रामीण' विशेषण लगाने की अपेक्षा सम्मानजनक 'जनपदीय' विशेषण का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त समझा गया है।

बोली और भाषा के भेद को समझने की एक अच्छी कसौटी बोधगम्यता की है। दो बानियों के बीच की बोधगम्यता एक ही संपर्क की दो बोलियों में पायी जाती है, किंतु दुर्बोधता का लक्षण दो संपर्क हीन भाषाओं में मिलता है। परंतु बोधगम्यता का गुण होने पर भी ध्वनि, पद, शब्दावली, वाक्य-रचना आदि भेद के कारण कुछ-न-कुछ अंतर आ जाता है। इसी अंतर के आधार पर बोलियों की भी उप-बोलियां बन जाती हैं। ये व्यावहारिक विभेद के कारण एक बोली में भी पायी जाती है। वास्तव में इनका अंतर बोलने में उतना नहीं होता जितना समझने में। एक प्रकार से उप-बोलियों के योग से बोलियां बनती हैं और बोलियों के सम्मिलन से भाषाएँ निर्मित होती हैं। इसी प्रकार ऐतिहासिक परिस्थितियों में कभी-कभी भाषाएँ टूट कर बोलियों के रूप धारण करती हैं और कभी बोलियां खंडित होकर उप-बोलियों में बदल जाती हैं।

फिर भी बोधगम्यता की कसौटी बहुत विश्वसनीय नहीं ठहरती है। हिंदी और उर्दू बोलने वाले परस्पर एक दूसरे को बात समझ कर भी एक दूसरे से अपने को पृथक मानता है और दो भिन्न भाषाओं की मांग करता है। कभी-कभी राजनीतिक कारणों से भी भाषा का भेद स्वीकार कर लिया जाता है। इसके कई उदाहरण हमारे देश में ह

उपलब्ध है। फलस्वरूप बोलियों को भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। इसके विपरीत ऐसे उदाहरणों के भी अभाव नहीं जहां भाषा को पद-च्युत कर उसे बोली का स्थान दे दिया जाता है।

क्षेत्रीय सीमा संकोच-विस्तार को भी भाषा और बोली के भेद की एक कसौटी माना गया है। परंतु व्यवहार में यह देखा जाता है कि कभी तो छोटी सीमा वाली बोली भाषाओं की सूची में स्थान पा जाती है और बड़ी सीमा वाली बोली जहां-की-तहां पड़ी रह जाती है। जन-संख्या का आधार भी इसकी कोई प्रामाणिक कसौटी नहीं है। भोजपुरी बोलने वालों की संख्या देश की कई भाषाओं की संख्या से कहीं अधिक है, किंतु कम संख्यक बोली बोलने वालों की बानी को जहां भाषा मान लिया गया है, वहां बहु-संख्यक भोजपुरी बोलनेवालों की बानी की उपेक्षा कर दी गई है। भोजपुरी का प्रयोग करने वालों की संख्या देश-विदेश में मिल कर तीन करोड़ से भी ऊपर है। इसी प्रकार बोली और भाषा के भेद की एक निर्णायक कसौटी प्रशासकीय अथवा राजकीय मान्यता भी है। इसके बल पर देश-विदेश की कितनी ही बोलियां भाषाई मान्यता प्राप्त कर बैठी हैं। यह कम कुतूहल जनक नहीं है कि अवधी तथा ब्रजभाषा में लिखित साहित्य होने के कारण भाषा-विज्ञान की दृष्टि में तो वे भाषाएँ हैं, किंतु शासकों-प्रशासकों के लिए उनका बोली से अधिक महत्व नहीं है। भाषाई मान्यता में प्रचार एवं संचार-साधनों का भी बहुत महत्व पूर्ण योगदान है।

राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार-प्रसार के साथ भाषाओं की मान्यता का प्रश्न जुड़ा हुआ है। सांस्कृतिक कारणों से भी इसे प्रश्रय एवं प्रोत्साहन मिलता है। इसी प्रकार औद्योगिक उन्नति भी इसका एक महत्वपूर्ण साधन है। धार्मिक भावना के कारण अरबी देश-विदेश की भाषा बन गई और व्यापार-विस्तार के कारण अंग्रेजी अंतरराष्ट्रीय व्यवहार में आने लगी। फिर भी राजनीतिक सत्ता का प्राबल्य सर्वोपरि है। इनसे भिन्न जन-जातियों की बोलियां हैं जिनमें से कई के पास न तो उनकी लिपियां हैं न उनका साहित्य। इसी प्रकार उनके व्यवहार करनेवालों की संख्या तथा उन बोलियों के क्षेत्र भी सीमित हैं। वे एक प्रकार से भाषा-सागर के मध्य द्वीप के समान है।

बोलियों के विस्तार तथा उनकी प्रगति के मार्ग में कई अवरोधक तत्व भी आते हैं। भाषा-संपर्क के अभाव में बोलियों का क्षेत्र यद्यपि

सीमित रह जाता है तथापि उनमें भी परिवर्तन आते रहते हैं। इस परिवर्तन में अंतर की प्रक्रिया और बाह्य प्रेरणा दोनों ही सहायक होती हैं। परंतु यह आवश्यक नहीं कि पूरे क्षेत्र पर एक साथ ही समान प्रभाव पड़े। प्राकृतिक सीमाएं भी अवरोध उत्पन्न करती हैं। जहां पर ऐसी बाधाएं नहीं रहतीं, वहां कई बोलियों की मिलावट देखने में आती है। इसी प्रकार व्यवस्था रहित समाज की बोली भी व्यवस्थित नहीं बन पाती हैं। आत्म-निर्भर क्षेत्रों पर भी बाह्य प्रभाव पड़ने के कम ही अवसर तथा अवकाश मिलते हैं। प्राचीन काल में भारतीय जोवन प्रायः ऐसा ही रहा है।

दूरस्थ देशों से व्यापारिभ संबंध अथवा सामाजिक संपर्क तथा राजनीतिक परिवर्तन बोलियों के स्वरूप में अंतर ला देते हैं। बोलियों के स्थान भाषाएं लेने लगती हैं और बोलियां उनमें अंतर्भुक्त हो जाती हैं।

इस प्रकार बोलियों की दो प्रवृत्तियां पायी जाती हैं : केंद्रापगामी तथा केंद्राभिगामी। केंद्रापगामी प्रवृत्ति के कारण उप-बोलियां विकसित होती हैं तथा केंद्राभिगामी प्रवृत्ति के फलस्वरूप जनपदीय बोलियों के प्रति उपेक्षा का भाव बढ़ता है और भाषा का प्रयोग करके श्रेष्ठता का भाव जागृत होता है।

प्रायः यह देखने में आया है कि राजधानियों की बोलियां राज्याश्रय पाकर राजभाषा बन जाती हैं और शिक्षित वर्ग के प्रयोग द्वारा वे साहित्यिक भाषा बनने का गौरव प्राप्त करती हैं। ऐसी दशा में स्वभावतः उनकी शब्द-संपदा में वृद्धि होता है और मंज कर उनमें निखार एवं परिष्कार भी आ जाता है। धीरे-धीरे व्याकरणिक अनुशासन द्वारा उनमें एक प्रकार की स्थिरता आ जाती है। इस प्रकार जनपदीय बोलियां यदि प्रवहमान सरिताएं हैं तो भाषाएं नहरें। दोनों के ही अपने-अपने मूल्य तथा महत्व हैं। ये प्रतिद्वंद्वी न होकर परस्पर पूरक हैं।

●

भाषा की सांस्कृतिक व्याख्या

भाषा और संस्कृति का अन्योन्याश्रय संबंध है। भाषा के बिना यदि संस्कृति पंगु है तो संस्कृति के अभाव में भाषा अंधी। ये दोनों ही मानव-विज्ञान की सीमा-रेखा पर स्थित हैं। भाषा एक ऐसा माध्यम है जिसमें ध्वनि-बिंब और अर्थ का सयोग होता है। यह एक प्रकार की सामाजिक संविदा है जिसके उपयोग से एक का भाव-संप्रेषण दूसरे पर होता है। इस प्रकार यह ध्वनि-प्रतीकों की संरचना-व्यवस्था है। इसके द्वारा एक वर्ग के भाषाभाषी दूसरे वर्ग के भाषाभाषियों से बातचीत अथवा विचार-विनिमय किया करते हैं। भाषा मानव की एक श्रेष्ठ उपलब्धि है।

इसी प्रकार संस्कृति मनुष्य की सर्वोपरि सामाजिक उपलब्धि है जिसमें भौगोलिक स्थितियों और ऐतिहासिक परिस्थितियों का महत्व पूर्ण योगदान रहता है। यह मानवोचित व्यवस्था का सूचक है। इसके द्वारा मानव के आचार-विचार में निर्धारित व्यक्त अथवा अव्यक्त प्रतिमानों का परिचय मिलता है।

भाषा और संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट हो जाने से यह समझने में देर नहीं लगती कि दोनों परस्पर संबद्ध हैं। दोनों ही मानव-अभिव्यक्ति के ही दो रूप हैं। इसलिए दोनों को सर्वथा स्वतंत्र मान कर न तो देखा जा सकता है, न ही समझा जा सकता है। संस्कृति को समझे बिना भाषा का अध्ययन एकांगी तथा अधूरा होता है। सांस्कृतिक परिवेश का परिचय न होने से बहुधा अर्थ का अनर्थ होने की आशंका रहती है। भाषा न केवल संस्कृति का अंग है अपितु वह उसकी कुंजी भी है।

एक फ्रेंच-प्राध्यापक ने एक बार कहा था, "मैं भाषा तथा साहित्य-विभाग को पढ़ा रहा हूं। भाषा पढ़ाने का मेरा उद्देश्य छात्रों को साहित्य पढ़ने के लिए तैयार करना है जिससे वे फ्रांस की सामाजिक उपलब्धियों को सौंदर्य एवं नैतिक बोध की दृष्टि से निरपेक्ष मूल्यों के रूप में सांस्कृतिक उपलब्धियों के समान समझ-सराह सकें।"

इसके लिए वस्तु-ज्ञान के साथ-साथ वस्तु विषयक अभिज्ञता का

होना भी आवश्यक है। प्रथम कोटि का ज्ञान सीधे संपर्क द्वारा अथवा करने से संभव होता है और दूसरी कोटि का देने–बताने से प्राप्त होता। इस प्रकार राबर्ट पोलित्सर का यह कथन ठीक है कि "भाषा के साथ सांस्कृतिक शिक्षा देने और उनकी परीक्षा करने की आवश्यकता का भाषा-अध्ययन के माध्यम से सांस्कृतिक बोध जगाने की संभावना का प्रयोग, भाषा पढ़ाने की असफलता पर आवरण डालने के लिए कदापि नहीं किया जाना चाहिए।"

भाषा एक ऐसा सामाजिक साधन है जिसके द्वारा वस्तु की व्यावहारिक स्थिति का बोध होता है उसके पारमार्थिक अभिप्राय का ज्ञान नहीं होता। "भाषाई एकसूत्रता का पर्याय सामाजिक एकसूत्रता है", हर्त्सलर का यह मत बहुत महत्व पूर्ण है। सांस्कृतिक संदर्भ में ही यह समझ में आता है कि काल-प्रभाव से कैसे भाषा-परिवर्तन होता है, देश-भेद से उसमें कैसे वैविध्य आता है और एक सामाजिक समुदाय से वह दूसरे में कैसे भिन्न होती है। भाषा-विज्ञान की परिधि में इन सबका अध्ययन आता है। माडल्टन ने इस आशय का मत व्यक्त किया है।

शब्दों का अर्थ-बोध कराने के लिए हमें उस परिस्थिति का परिचय कराना पड़ता है जिसमें उनका प्रयोग किया जाता है। इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि जिस भाषा का जब अध्ययन किया जाय तब उसमें उस क्षेत्र की समग्र संस्कृति का समावेश हो जाय। पोलित्सर के कथनानुसार, "भाषा-शिक्षण की सामान्य स्थिति में सांस्कृतिक व्याख्या और विश्लेषण से भाषा-शिक्षा का संबंध जुड़ा रहना चाहिए।"

भाषा के क्षेत्र में सामाजिक समुदायों के बीच जो विभिन्नता अथवा विविधता पायी जाती है उसकी कोई सीमा निर्धारित करना कठिन ही नहीं, असंभव भी है। क्योंकि दीर्घ काल तक उसके अनवरत प्रयोग के कारण उसकी एक ऐतिहासिक परंपरा बन जाती है। सर्जनात्मक यत्नों की भांति भाषा में भी विविधता होती है। वास्तव में भाषा एक अर्जित सांस्कृतिक प्रक्रिया है। राजनीतिक अस्थिरता और भाषागत अस्थिरता के बीच संबंध-सूत्र पाना कठिन नहीं है। येस्पर्सन जैसे विद्वान इस अव-धारणा को पुष्ट करते हैं।

सांस्कृतिक संदर्भ में धर्म और उसकी भाषा का भी अपना विशिष्ट स्थान एवं महत्व है। धर्म मनुष्य की सांस्कृतिक उपलब्धि है और धर्म

की भाषा उसकी अभिव्यक्ति का एक माध्यम। धर्म मूलतः भावना प्रसूत है, इसलिए उसकी भाषा भी हृदय की सांकेतिक भाषा है। इस प्रकार वह व्यवहार में आकर पारिभाषिक शब्दावलि से युक्त बन जाती है और यदा-कदा व्याकरणिक मान्यताएं वहां शिथिल पड़ जाती हैं। सामान्य प्रयोग की शब्दावलि की अपेक्षा उनमें अर्थ-वैभिन्न आ जाता है। वे जब सांप्रदायिक सीमा में रूढ़ हो जाते हैं तो सामान्य कोश में उनका अर्थ प्रायः दुर्लभ हो जाता है। इसलिए धर्म-भाषा कई दृष्टियों से सामान्य भाषा से भिन्न हो जाती हैं। भाषा का यह पक्ष भाषा-वैज्ञानिकों के लिए ध्यातव्य है। भक्ति-साहित्य की व्याख्या के लिए इसका अध्ययन अपरिहार्य हैं।

भाषा संस्कृति से अभिन्न तथा अविभाज्य है। वह उसकी ध्वन्यात्मक व्यवस्था है। जिस संस्कृति में जितने अर्थों को खपाने-पचाने की क्षमता होती है वह उन सबको अपने में समाहित कर लेती है। मैंडलबान ने ठीक ही लिखा है कि प्रत्येक संस्कृति का सार-तत्व उसकी भाषा में अभिव्यक्ति पा सकता है और पाया करता है। किसी भाषा को हृदयंगम करने के लिए उसके सांस्कृतिक प्रतिमानों को आत्मसात करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है, क्योंकि उनके अर्थों का निर्धारण तथा संशोधन संस्कृति-सापेक्ष है।